विनोबाके विचार

प्रस्तावना लेखक
श्रीमहादेव देसाई

संपादक
श्रीवियोगी हरि

सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मडल,
नई दिल्ली।

पांचवी बार १९५०
मूल्य
दो रुपए

मुद्रक,
तीर्थराम कपूर,
कैपीटल प्रेस,
दिल्ली।

विषय-सूची

प्रस्ताव

प्रसिद्धिकी जिनको कभी परवाह नहीं थी उनको पूज्य गांधीजीके सत्याग्रहने असाधारण प्रसिद्धि दे दी। यह प्रसिद्धि मिल गई तो उससे भी जलकमलवत् निलिप्त रहनेकी शक्ति जितनी श्रीविनोबाकी है उतनी और किसीकी नहीं है। जिन विशेषताओंके लिए पूज्य गांधीजीने उन्हें प्रथम सत्याग्रहीकी हैसियतसे पसंद किया उन विशेषताओंको सब लोग समझ नहीं सके है, ऐसी मुझे आशंका है। कई बड़े-बड़े सरकारी अफसरोंने मुझसे कहा कि जवाहरलालजी, भूलाभाई तो बड़े नेता हैं, उनको कड़ी सजा देनी पड़ती है क्योंकि उनका प्रभाव हजारों लोगों पर है। विनोबा तो Small fry यानी अल्प जीव—है, उनको गांधीजीने बढ़ाया है, उनके असरका सरकारको डर नहीं है। डर हो या न हो, मि० एमरीने भी अब श्रीविनोबाका नाम अपने निवेदनमें दिया और उनका एक सच्चे दयाधर्मकि नामसे उल्लेख किया है।

विनोबाका प्रभाव आज नहीं, वर्षोंके बाद लोग जानेंगे। उनकी थोड़ी विशेषताओंका निर्देश करना मैं आवश्यक समझता हूं। वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं; शायद वैसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी और भी होंगे। वे प्रखर विद्वान् है, वैसे प्रखर विद्वान् और भी है। उन्होंने सादगीको वरण किया है, उनसे भी अधिक सादगीसे रहनेवाले गांधीजीके अनुयायियोंमें कई हैं। वे रचनात्मक कार्यके महान् पुरस्कर्त्ता और दिन-रात उसीमें लगे रहनेवाले व्यक्ति हैं; ऐसे भी कुछ गांधी-मार्गानुगामी है। उनकी जैसी तेजस्वी बुद्धि-शक्तिवाले भी कई हैं। परंतु उनमें कुछ और भी चीजें हैं जो अ र किसीमें नहीं हैं। एक निश्चय किया, एक तर व हण किया तो उसका उसी क्षणसे अमल करना—उनका प्रथम पंक्तिका गुण है। उनका दूसरा गुण निरंतर विकासशीलताका है। शायद ही हममेंसे कोई ऐसा हो जो कह सके कि मैं प्रतिक्षण विकास

कर रहा हूं। बापूको छोड़कर यदि और किसीमें यह गुण मैंने देखा है तो विनोबामें। इसलिए ४६ सालकी उम्रमें उन्होंने अरबी जैसी कठिन भाषाका अभ्यास किया, कुरानशरीफका अनुष्ठान किया और उसके हाफ़िज़ बन गये है। बापूके कई बड़े अनुयायी ऐसे हैं जिनका प्रभाव जनतापर बहुत पड़ता है, पर बापूके शायद ही किसी अनुयायीने सत्य-अहिंसाके पुजारी और कार्यरत सच्चे सेवक उतने पैदा किये हों जितने कि विनोबाने पैदा किये हैं। "योग: कर्मसु कौशलम्" के अर्थमें विनोबा सच्चे योगी हैं। उनके विचार, वाणी और आचारमें जैसा एकराग है वैसा एकराग बहुत कम लोगोंमें होगा, इसलिए उनका जीवन एक मधुर संगीतमय है। "सचार करो सकल कर्मे शांत तोमार छंद" कविवर टगोरकी यह प्रार्थना शायद विनोबा पूर्वजन्मसे करके आये है। ऐसे अनुयायीसे गांधीजी और उनके सत्याग्रहकी भी शोभा है।

उनके कुछ लेखोंका यह संग्रह बड़ा उपयोगी होगा। उनकी मितभाषिता, उनके विचार और वाणीका संयम और उनकी तत्त्वनिष्ठाका इस संग्रहमें पद-पदपर परिचय मिलेगा।

सेवाग्राम

२५–११–४०

महादेव देसाई

प्रथम सत्याग्रही विनोबा

श्री विनोबा भावे कौन है ? मैंने उन्हें ही इस सत्याग्रहके लिए क्यों चुना ? और किसीको क्यों नहीं ? मेरे हिंदुस्तान लौटनेपर सन् १९१६में उन्होंने कालिज छोड़ा था। वे संस्कृतके पण्डित है। उन्होंने आश्रममें शुरूसे ही प्रवेश किया था। आश्रमके सबसे पहले सदस्योंमेंसे वे एक है। अपने संस्कृतके अध्ययनको आगे बढानेके लिए वे एक वर्षकी छुट्टी लेकर चले गये। एक वर्षके बाद ठीक उसी घडी, जब कि उन्होंने एक वर्ष पहले आश्रम छोड़ा था, चुपचाप आश्रममें फिर आ पहुंचे।। मैं तो भूल भी गया था कि उन्हें उस दिन आश्रममें वापस पहुचना था। वे आश्रममें सब प्रकारकी सेवा-प्रवृत्तियो—रसोईसे लगाकर पाखानासफाई तक—में हिस्सा ले चुके है। उनकी स्मरणशक्ति आश्चर्य-जनक है। वे स्वभावसे हा अध्ययनशील है। पर अपने समयका ज्यादा हिस्सा वे कातनेमें ही लगाते हैं, और उसमें ऐसे निष्णात हो गये है कि बहुत ही कम लोग उनकी तुलनामें रखे जा सकते है। उनका विश्वास है कि व्यापक कताईको सारे कार्यक्रमका केंद्र बनानेसे ही गांवोकी गरीबी दूर हो सकती है। स्वभावसे हा शिक्षक होनेके कारण उन्होने श्रीमती आशादेवीको दस्तकारीके द्वारा बुनियादी तालीमकी योजनाका विकास करनेमें बहुत योग दिया है। श्री-विनोबाने कताईको बुनियादी दस्तकारी मानकर एक पुस्तक भी लिखी है। वह बिलकुल मौलिक चीज है। उन्होने हंसी उडानेवालोंको भी यह सिद्ध करके दिखा दिया है कि कताई एक ऐसी अच्छी दस्तकारी है कि जिसका उपयोग बुनियादी तालीममें बखूबी किया जा सकता है। तकली कातनेमें तो उन्होने क्रांति ही ला दी है; और उसके अदर छिपी हुई तमाम शक्तियोंको खोज निकाला है। हिंदुस्तानमें हाथकताईमें इतनी संपूर्णता किसीने प्राप्त नहीं को जितनी कि उन्होंने की है।

उनके हृदयमें छूआछूतकी गंधतक नहीं है। सांप्रदायिक एकतामें उनका इतना ही विश्वास है जितना कि मेरा। इस्लाम धर्मकी खूबियोंको समझने-के लिए उन्होंने एक वर्षतक कुरानशरीफका मूल अरबीमें अध्ययन किया। इसके लिए उन्होंने अरबी भी सीखी। अपने पड़ोसी मुसलमान भाइयोंसे अपना सजीव संपर्क बनाये रखनेके लिए उन्होंने इसे आवश्यक समझा।

उनके पास उनके शिष्यों और कार्यकर्त्ताओंका एक ऐसा दल है जो उनके इशारेपर हर तरहका बलिदान करनेको तैयार है। एक युवकने अपना जीवन कोढ़ियोंकी सेवामें लगा दिया है। उसे इस कामके लिए तैयार करनेका श्रेय श्रीविनोबाको ही है। औषधियोंका कुछ भी ज्ञान न होनेपर भी अपने कार्यमें अटल श्रद्धा होनेके कारण उसने कुष्ठरोगकी चिकित्साको पूरी तरह समझ लिया है। उसने उनकी सेवाके लिए कई चिकित्साघर खुलवा दिये। उसके परिश्रमसे सैकड़ों कोढी अच्छे हो गये हैं। हालहीमें उसने कुष्ठ-रोगियोंके इलाजके संबंधमें एक पुस्तिका मराठीमें लिखी है।

विनोबा कई वर्षोंतक वर्धाके महिला-आश्रमके संचालक भी रहे हैं। दरिद्रनारायणकी सेवा प्रेम उन्हें वर्धाके एक गांवमें खींच ले गया। अब तो वे वर्धासे पांच मील दूर पौनार नामक गांवमें जा बसे है और वहांसे उन्होंने अपने तैयार किये हुए शिष्योंके द्वारा गांववालोंके साथ संपर्क स्थापित कर लिया है। वे मानते हैं कि हिंदुस्तानके लिए "राजनैतिक स्वतंत्रता" आवश्यक है। वे इतिहासके निष्पक्ष विद्वान है। उनका विश्वास है कि गांववालोंको रचनात्मक कार्यक्रमके बगैर सच्ची आजादी नहीं मिल सकती। और रचनात्मक कार्यक्रमका केंद्र है खादी। उनका विश्वास है कि चरखा अहिंसाका बहुत ही उपयुक्त बाह्य चिह्न है, उनके जीवनका तो वह एक अंग ही बन गया है। उन्होंने पिछली सत्याग्रहकी लडाइयोंमें सक्रिय भाग लिया था। वे राज-नीतिके मंचपर कभी लोगोंके सामने आये ही नहीं। कई साथियोंकी तरह उनका यह विश्वास है कि सविनय आज्ञाभंगके अनुसंधानमें शांत रचनात्मक काम कहीं ज्यादा प्रभावकारी होता है, इसकी अपेक्षा कि जहां आगे ही राजनैतिक भाषणोंका अखंड प्रवाह चल रहा है वहां जाकर

और भाषण दिये जायं। उनका पूर्ण विश्वास है कि चरखेमें हार्दिक श्रद्धा रखे बिना और रचनात्मक कार्यमें सक्रिय भाग लिये बगैर अहिंसक प्रतिकार संभव नहीं।

श्रीविनोबा युद्धमात्रके विरोधी है। परंतु वे अपनी अंतरात्माकी तरह उन दूसरोंकी अंतरात्माका भी उतना ही आदर करते है जो युद्धमात्रके विरोधी तो नही है, परंतु जिनकी अंतरात्मा इस वर्त्तमान युद्धमें शरीक होनेकी अनुमति नही देती। अगरचे श्रीविनोबा दोनों दलोंके प्रतिनिधिके तौरपर हैं यह हो सकता है कि सिर्फ हालके इस युद्धमें विरोध करनेवाले दलका खास एक और प्रतिनिधि चुननेकी मुझे आवश्यकता लगे।

मो० क० गांधी

['हरिजन-सेवक' से]

विनोबाके विचार

१
बूढा तर्क

ज्यादा उम्रवालेको अपने यहा बूढा कहते है। इस देशमे आजकल ऐसे बूढे बहुत कम मिलते है। हम लोगोकी जिंदगीका औसत २४ बरसका पडता है। कहते है विलायत वगैरह देशोमे इससे दूना है। इससे वहा बूढे बहुत मिलते है।

अपने यहा ऐसे बूढे चाहे कम हो पर एक और तरहके बूढे तो बहुत है। वह किस तरहके है? किसी विद्वान्ने कहा है कि नई चीज सीखनेकी आशा जिसने छोड दी वह बूढा है। ऐसे बूढे अपने यहा जहा देखिये मिल जायगे। बचपनमे जो पल्ले पड गया पड गया। इसके बाद याद जरा बडे होकर किसी धधे मे लग गए और तब कहा गया कि एकाध चीज सीख लो तो कैसा उछल पडता है। इस जनताने पढे अनपढे दोनोमे मुक्तकी गुलामीके कारण घर सा कर लिया है। पढे हुओमे यह कुछ अधिक ही है, कम नही।

एक बार एक राष्ट्रीय पाठशालाके शिक्षकसे मैने सहज सुझाया 'आप थोडी सी हिंदी सीख ले।'* हिंदीको हमने राष्ट्रभाषा माना है। राष्ट्रीय पाठशालामे तो हिंदीकी शिक्षाको स्थान होना चाहिए। और हिंदी फिर कोई कठिन भाषा हो है सहज है और इसी कारण वह राष्ट्रभाषा बन सकी है। गर्मीकी किसी छुट्टीमे हिंदी भाषा सहज ही, मजेसे सीखी जा सकेगी। आप

*यह लेख मराठीसे अनुवादित है और विनोबाजी महाराष्ट्रीय है।

सीख लें तो फिर हम भी बच्चाको थोड़ो हिंदी सिखा सकेंगे।" इस पर उनकी ओरसे सीधा जवाब मिला, "आप जा कहते हैं वह ठीक है। हिंदी कोई वैसी कठिन भाषा नहीं है। पर अब हमसे कोई नई चीज सोखते बनेगा, ऐसा नहीं लगता। मुझे जो कुछ आता है उससे आप जी चाहे जितना काम ले लीजिए। चाहे ता चारके बदले पाच घटे पढा देंगे पर नया सीखनेके लिए न कहिए। सीखते सीखते ऊब गया!" बेचारा जिंदगीसे भी ऊबा हुआ दिखा। इसका नाम है 'बूढा'।

यह तो हुई सादी हिंदी सीखनेकी बात। अगर कोई जरा बढकर कहे कि "हिंदू मुस्लिम एकता दृढ करनी हो ता दोनोंको ही पास आकर एक-दूसरेको अच्छी तरह जान लेना चाहिए। इससे बहुत-सी गलतफहमी अपने आप दूर हो जायगी। इसके लिए देवनागरी लिपिके साथ ही-साथ राष्ट्रीय पाठशालाओं-मे उर्दू लिपि सिखाई जाय। "और चूंकि यह करना है इसलिए शिक्षक पहले वह लिपि सीख लें" फिर ता वह पागलामे ही शुमार किया जायगा। "अजी साहब, मुसलमानाकी सारी बात उलटी होती हैं। हम चाटी रखते है, वह कटवाते है। हम दाढी साफ करवाते हैं, वह दाढी रखते है। कहते है, यही बात उनकी लिपिको है। हम बाईं ओरसे दाहिनी तरफ लिखते हैं, तो वह दाहिनी तरफसे बाईं ओर! ऐसी लिपि हमसे कैसे सीखी जा सकेगी?" यह उनका जवाब है। यह कल्पनासे नहीं लिखता, ऊपरका जवाब एक सज्जन से सचमुच मिला है। मुसलमानाके बारेमे उनका कथन मजाकमे वैसा हो गया, अन्यथा वह उनके मनके भाव नहीं थे। मनकी बात इतनी ही थी कि "नया नहीं सीखना।"

और अगर सूत कातनेको कह दिया? फिर तो पूछिए ही नहीं। "पहले तो वक्त ही बहुत कम मिलता है। और वक्त अगर ज्यो त्या करके निकाला भी, ता आजतक ऐसा काम कभी किया नहीं, तो अब कैसे होगा?" यहांसे शुरूआत होगी। "जो आजतक नही हुआ, वह आगे भी नहीं होनेका।" यह बूढा तक है। मालूम नहीं, इन बूढोंको यह क्यों नहीं समझ पड़ता कि जो आजतक नहीं हुई, ऐसी बहुत सी बातें आगे होनेवाली हैं। आजतक मेरे

लड़केका ब्याह नहीं हुआ, वह अभी होनेको है, यह मेरी समझमें आता है। लेकिन अबतक मेरे हाथसे सूत नही कता वह आगे कतनेको है, यह मेरी समझमे क्यों नही आता ? इसका जवाब साफ है। आजतक मैंने स्वराज्य नहीं पाया है वह आगे पाना है, यह हमारे ध्यानमे न होनेकी वजहसे। और इसीके साथ आजतक मैं मरा नहीं हूं तो भी आगे मरना है, बल्कि आजतक मैं मरा नही इसीलिए आगे मरना है, इस बातका भी भान नही रहा इसलिए।

मेरे मन, आजतक मैं मरा नही इससे आगे नही मरना है, ऐसे बूढ़े तर्कका आसरा मत लो, नही तो फजीहत होगी।

: २ :

त्याग और दान

एक आदमीने भलेपनसे पैसा कमाया है। उससे वह अपनी गृहस्थी सुख-चैनसे चलाता है। बाल-बच्चोंका उसे मोह है, देहकी ममता है। स्वभावतः ही पैसेपर उसका जोर है। दिवाली नजदीक आते ही वह अपना तलपट सावधानीसे बनाता है। यह देखकर कि सब मिलाकर खर्च जमाके अंदर है और उससे 'पूंजी' कुछ बढ़ी ही है, उसे खुशी होती है। बडे ठाठसे और उतने ही भक्तिभावसे वह लक्ष्मीजीकी पूजा करता है। उसे द्रव्यका लोभ है, फिर भी नामका कहिए या परोपकारका कहिए, उसे खासा खयाल है। उसे ऐसा विश्वास है कि दान धर्मके लिए—इसीमे देशको भी ले लीजिए—खर्च किया हुआ धन ब्याज समेत वापस मिल जाता है। इसलिए इस काममे वह खुले हाथो खर्च करता है। अपने आस-पासके गरीबोको उसका इस तरह बड़ा सहारा लगता है जिस तरह छोटे बच्चोंको अपनी मांका।

दूसरे एक आदमीने इसी तरह सचाईसे पैसा कमाया था। लेकिन इसमें उसे सतोष न होता था। उसने एक बार बागके लिए कुआ खुदवाया। कुआं बहुत गहरा था। उसमेसे थोड़ी मिट्टी, कुछ छर्री और बहुत पत्थर निकले।

कुआ जितना गहरा गया, इन चीजोंका ढेर भी उतना ही ऊचा लग गया। मन ही मन वह सोचने लगा, "मेरी तिजोरीमे पैसेका ऐसा ही टीला लगा हुआ है, उसी अनुपातसे किसी और जगह कोई गड्ढा तो नहा पड़ गया होगा ?" विचारका धक्का बिजली जैसा होता है, इतने विचारसे ही वह हड़बडाकर सचेत हो गया। वह कुआ ता उसका गुरु बन गया। कुएसे उसे जो कसोटी मिली उसपर उसने अपनी सचाईको घिसकर देखा, वह खरी नहीं उतरती, ऐसा ही उसे दिखाई दिया। इस विचारने उसपर अपना प्रभुत्व जमा लिया कि 'व्यापारिक सचाइ' की रक्षा मैंने भले ही की हो, फिर भी इस बालूकी बुनियादपर मेरा मकान कबतक टिक सकता ? अतमे पत्थर, मिट्टी और मानिक मोतियोमे उसे कोई फर्क नहा दिखाई दिया। यह सोचकर कि फिजूल का कूटा कचरा भरकर रखनेसे क्या लाभ, वह एक दिन सवेरे उठा और अपनी सारी सपत्ति गधेपर लादकर गगा किनारे ले गया। "मा, मेरा पाप धो डाल।" इतना कहकर उसने वह कमाई गगा माताके आचलमे उडेल दी और बेचारा स्नान करके मुक्त हुआ। उससे कोई कोई पूछते है "दान ही क्या न कर दिया ?" वह जवाब देता है "दान करते समय 'पात्र' तो देखना पडता है। अपात्रका दान देनेसे धर्मके बदले अधम होनेका डर जा रहता है। मुझे अनायास गगाका 'पात्र' मिल गया, उसमे मैंने दान कर दिया। इसस भी सक्षेपमे वह इतना ही कहता है, "कूडे कचरेका भी कहा दान किया जाता है ?" उसका अतिम उत्तर है 'मौन'। इस तरह उसके सपत्ति-त्यागसे उसके सब 'सगो' ने उसका परित्याग कर दिया।

पहली मिसाल दानकी है दूसरी त्यागकी। आजके जमानेमे पहली मिसाल जिस तरह दिलपर जमती है उस तरह दूसरी नही। लेकिन यह हमारी कमजोरी है। इसीलिए शास्त्रकारोने भी दानकी महिमा कलियुगके लिए कही है। 'कलियुग' मानी क्या ? कालयुग मानी दिलकी कमजोरी। दुर्बल हृदय द्रव्यके लोभको पूरी तरह नही छोड़ सकता। इसलिए उसके मनकी उड़ान अधिक स अधिक दानतक ही हो सकती है। त्यागतक तो उसकी पहुच ही नहीं हो सकती। लोभी मनको ता त्याग का नाम सुनते ही जाने कैसा लगता है।

इसलिए उसके सामने शास्त्रकारोने दानके ही गुण गाये हैं।

त्याग तो बिलकुल जड़पर ही आघात करनेवाला है। दान ऊपर-ही-ऊपरसे कोपले खोटने जैसा है। त्याग पीनेकी दवा है; दान सिरपर लगानेकी सोंठ है। त्यागमे अन्यायके प्रति चिढ़ है; दानमे नामका लिहाज है। त्यागसे पापका मूलधन चुकता है; और दानसे पापका ब्याज। त्यागका स्वभाव दयालु है, दानका ममतामय। धर्म दोनो ही पूर्ण हैं। त्यागका निवास धर्मके शिखर पर है; दानका उसकी तलहटीमे।

पुराने जमानेमे आदमी और घोडा अलग-अलग रहते थे। कोई किसीके अधीन न था। एक बार आदमीको एक जल्दीका काम आ पड़ा। उसने थोडी देरके लिए घोडेसे उसकी पीठ किरायेपर मागी। घोडेने भी पड़ोसीके धर्मको सोचकर आदमीका कहना स्वीकार कर लिया। आदमीने कहा "लेकिन तेरी पीठपर मैं यो नही बैठ सकता, तू लगाम लगाने देगा तभी मैं बैठ सकूंगा।" लगाम लगाकर मनुष्य उसपर सवार हो गया, और घोड़ेने भी थोड़े समयमें काम बजा दिया। अब करारके मुताबिक घोडेकी पीठ खाली करनी चाहिए थी, पर आदमीसे लोभ न छूटता था। वह कहता है, "देख भाई, तेरी यह पीठ मुझसे छोडी नही जाती इसलिए इतनी बात तू माफ कर। हा, तूने मेरी खिदमत की है (और आगे भी करेगा) इसे मैं कभी न भूलूंगा। इसके बदलेमे मै तेरी खिदमत करूंगा, तेरे लिए घुडसाल बनाऊंगा, तुझे दाना-घास दूंगा, पानी पिलाऊगा, खरहरा करूंगा, जो कहेगा वह करूंगा, पर छोडनेकी बात मुझसे न कहना।" घोडा बेचारा कर ही क्या सकता था? जोरसे हिनहिनाकर उसने अपनी फरियाद भगवान्के दरबारमे पेश की। घोडा त्याग चाहता था; आदमी दानकी बाते कर रहा था। भले आदमी, कम-से-कम अपना यह करार तो पूरा होने दे!

: ३ :

कृष्ण-भक्तिका रोग

'दुनिया पैदा करें' ब्रह्माजीकी यह इच्छा हुई। इसके अनुसार कारवार शुरू होनेवाला ही था कि कौन जाने कैसे उनके मनमें आया कि 'अपने काम में भला-बुरा बतानेवाला कोई रहे तो बड़ा मजा रहेगा।' इसलिए आरंभमें उन्होंने एक तेज तरार टीकाकार गढ़ा। और उसे यह अख्तियार दिया कि आगेसे मैं जो कुछ गढ़ूंगा उसकी जांचका काम तुम्हारे जिम्मे रहा। इतनी तैयारीके बाद ब्रह्माजीने अपना कारखाना चालू किया। ब्रह्माजी एक-एक चीज बनाते जाते और टीकाकार उसकी चूक दिखाकर अपनी उपयोगिता सिद्ध करता जाता। टीकाकारकी जांचके सामने कोई चीज बे ऐब ठहर ही न पाती। "हाथी ऊपर नहीं देख पाता, ऊंट ऊपर ही देखता है। गदह में चपलता नहीं है, बंदर अत्यंत चपल है।" यों टीकाकारने अपनी टीकाके तीर छोड़ने शुरू किये। ब्रह्माजी की अक्ल गुम हो गई। फिर भी उन्होंने एक आखिरी कोशिश कर देखनेकी ठानी और अपनी सारी कारीगरी खर्च करके 'मनुष्य' गढ़ा। टीकाकार उसे बारीकीसे निरखने लगा। अंतमें एक चूक निकल ही आई। "इसकी छातीमें एक खिड़की होनी चाहिए थी, जिससे इसके विचार सब समझ पाते।" ब्रह्माजी बोले—"तुझे रचा यही मेरी एक चूक हुई, अब मैं तुझे शंकरजी के हवाले करता हूं।"

यह एक पुरानी कहानी कहीं पढ़ी थी। इसके बारेमें शंका करनेकी सिर्फ एक ही जगह है। वह यह कि कहानीके वर्णनके अनुसार टीकाकार शंकरजीके हवाले हुआ नहीं दीखता। शायद ब्रह्माजीको उन पर दया आ गई हो, या शंकरजीने उनपर अपनी शक्ति न आजमाई हो। जो हो, इतना सच है कि आज उनकी जाति बहुत फैली हुई पाई जाती है। गुलामी-के जमानेमें वक्तृत्व बाकी न रह जाने पर वक्तव्यको मौका मिलता है। कामकी बात खत्म हुई कि बातका ही काम रहता है। और बोलना ही है

तो नित्य नये विषय कहांसे खोजे जायं ? इसलिए एक सनातन विषय चुन लिया गया—"निंदा-स्तुति जनकी; वार्ता बधू-धनकी ।" पर निंदा-स्तुति-में भी तो कुछ बाट-बखरा होना चाहिए। निंदा अर्थात् पर-निंदा और स्तुति अर्थात् आत्म-स्तुति। ब्रह्माजीने टीकाकारको भला-बुरा देखनेको तैनात किया था। उसने अपना अच्छा देखा, ब्रह्माजीका बुरा देखा। मनुष्यके मनकी रचना ही कुछ ऐसी विचित्र है कि दूसरेके दोष उसको जैसे उभरे हुए साफ दिखाई देते हैं, वैसे गुण नहीं दिखाई देते। संस्कृतमें 'विश्व-गुणादर्श-चंपू' नामका एक काव्य है। वेंकटाचारी नामके एक दाक्षिणात्य पंडितने लिखा है। उसमें यह कल्पना है कि कृशानु और विभावसु नामके दो गन्धर्व विमानमें बैठकर फिर रहे हैं, और जो कुछ उनकी नजरोंके सामने आता है उसकी चर्चा किया करते है। कृशानु दोष-द्रष्टा है; विभावसु गुण-ग्राहक है। दोनों अपनी-अपनी दृष्टिसे वर्णन करते है। गुणादर्श अर्थात् 'गुणोंका दर्पण' इस काव्यका नाम रखकर कविने अपना निर्णायक मत विभावसुके पक्षमें दिया है। फिर भी कुल मिलाकर वर्णनका ढंग कुछ ऐसा है कि अंतमें पाठकके मन पर कृशानुके मतकी छाप पड़ती है। गुण लेनेके इरादेसे लिखी हुई चीजकी तो यह दशा है। फिर दोष देखनेकी वृत्ति होती तो क्या हाल होता ?

चंद्रकी भांति प्रत्येक वस्तुके शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष होते हैं। इस-लिए दोष ढूंढनेवाले मनके यथेच्छ विचरनेमें कोई बाधा पड़नेवाली नहीं है। 'सूर्य दिनमें दिवाली करता है फिर भी रातको तो अंधेरा ही देता है' इतना ही कह देनेसे उस सारी दिवालीकी होली हो जायगी। उसमें भी अवगुण ही लेनेका नियम बना लिया जाय तो दो दिनोंमें एक रात न दिखकर एक दिनके अगल-बगल दो रातें दिखाई देंगी। फिर अग्निकी ज्योतिकी ओर ध्यान न जाकर धुएंसे अग्निका अनुमान करनेवाले न्याय-शास्त्रका निर्माण होगा। भगवान्ने यह सब मजेकी बातें गीता-में बतलाई हैं। अग्निका धुआं, सूर्यकी रात अथवा चंद्रका कृष्णपक्ष देखनेवाले 'कृष्ण-भक्तों'का उन्होंने एक स्वतंत्र वर्ग रक्खा है। दिनमें

आखे बद की तो अधेरा और रातको आखें खोलीं तो अधेरा—स्थितप्रज्ञकी इस स्थितिके अनुसार इन लोगों का कार्यक्रम है। पर भगवान्ने स्थितप्रज्ञके लिए मोक्ष बतलाया है तो इनके लिए कपाल-मोक्ष। पर इतना होनेपर भी यह सम्प्रदाय छुतहे रोगकी तरह बढ रहा है। पुतलीके काली होने या काले रगमे आकर्षण अधिक होनेकी वजहसे काला पक्ष जैसा हमारी आखमे भरता है वैसा उज्वल पक्ष नही भरता। ऐसी स्थितिमें यह साम्प्रदायिक रोग किस औषधिसे अच्छा होगा, यह जान रखना जरूरी है।

पहली दवा है चित्तमे भिदी हुई इस 'कृष्ण-भक्ति'को बाहरी कृष्ण न दिखाए, भीतरके कृष्णके दर्शन कराए। लोगोंकी कालिख देखनेकी आदी निगाहको मनके भीतरकी कालिख दिखाए। विश्वके गुण दोषको जाचकर देखनेवाला मनुष्य बहुधा अपने आपको निर्दोष मान बैठता है। उसका यह भ्रम दूर होनेपर उसके परीक्षणका डक अपने आप टूट जाता है। बाइबिलके 'नये करार'मे इस बारेमे एक सुन्दर प्रसगका उल्लेख है—एक बहनसे कोई बुरा काम शायद हो गया। उसकी जाच करके न्याय देनेके लिए पच बैठे थ। वहा श्रवण भक्त भी काफी तादादमे जुट गये होंगे, यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं। किंतु विशेषता यह थी कि उस बहनका सद्भाग्य भगवान् ईसाको वहा खीच लाया था। पचोंने फैसला सुनाया। "इस बहनने घोर अपराध किया है। सब लोग पत्थरोंसे मारकर उसे शरीरसे मुक्त करे।" फैसला सुनते ही लोगोंके हाथ फड़कने लगे और आस पासके ढेले थर-थर कापने लगे। भगवान् ईसाको उन ढेलो पर दया आई। उन्होंने खडे होकर सबसे एक ही बात कही—'जिसका मन बिल्कुल साफ हो वह पहला ढेला मारे'। जमात जरा देरके लिए ठिठक गई। फिर धीरे धीरे वहासे एक एक आदमी खिसकने लगा। अतमे वह अभागी बहन और भगवान् ईसा यह दो ही रह गए। भगवान्ने उसे थोडा उपदेश देकर प्रेमसे बिदा किया। यह कहानी हमे सदा ध्यानमें रखनी चाहिए।

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न दीखा कोय।
जो घट खोजा आपना मुझ-सा बुरा न कोय॥

दूसरी दवा है मौन। पहली दवा दूसरेके दोष दिखे ही नहीं, इसलिए है। दृष्टि-दोषसे दोष दिखनेपर यह दूसरी दवा अचूक काम करती है। इससे मन भीतर-ही-भीतर तड़फड़ायेगा। दो-चार दिन नींद भी खराब जायगी। पर आखिरमें थककर मन शांत हो जायगा। तानाजीके खेत रहनेपर मावले पीठ दिखा देंगे ऐसे रंग दिखाई पड़ने लगे। तब जिस रस्सीकी मददसे वह गढ़पर चढ़े थे और जिसकी मददसे अब वह उतरनेका प्रयत्न करनेवाले थे वह रस्सी ही सूर्याजीने काट डाली। "वह रस्सी तो मैंने कभीकी काट दी है" सूर्याजीके इस एक वाक्यने लोगोंमें निराशाकी बीरश्री पैदा कर दी और गढ़ सर हो गया। रस्सी काट डालने-का तत्त्वज्ञान बहुत ही महत्त्वका है। इसपर अलगसे लिखनेकी जरूरत है। इस वक्त तो इतनेसे ही अभिप्राय है कि मौन रस्सी काट देने जैसा है। 'या तो दूसरेके दोष देखना भूल जा, नहीं तो बैठकर तड़फड़ाता रह', मन पर यह नौबत आ जाती है। और यह हुआ नहीं कि सारा रास्ता सीधा हो जाता है। कारण, जिसको जीना है उसके लिए बहुत समयतक तड़-फड़ाते बैठना सुविधाजनक नहीं होता।

तीसरी दवा है कर्मयोगमें मग्न हो रहना। जैसे आज सूत कातना अकेला ही ऐसा उद्योग है कि छोटे-बड़े सबको काफी हो सकता है, वैसे ही कर्मयोग एक ही ऐसा योग है जिसकी सर्वसाधारणके लिए बे-खटके सिफा-रिश की जा सकती है। किंबहुना, सूत कातना ही आजका कर्म-योग है।

सूत कातनेका कर्म-योग स्वीकार किया कि लोक-निंदाको मथने रहने-की फुर्सत ही नहीं रहती। जैसे किसान अन्नके दाने-दानेकी असली कीमत समझता है, वैसे ही सूत कातने वालेको एक-एक क्षणके महत्त्वका पता चलता है। "क्षणभर भी खाली न जाने दे" समर्थकी यह सूचना अथवा "क्षणार्ध भी व्यर्थ न खो" नारदका यह नियम क्या कहता है, यह सूत कातते हुए, अक्षरशः समझमें आता है। कर्मयोगका सामर्थ्य

अद्भुत है, उसपर जितना जोर दिया जाय कम है। यह मात्रा ऐसे अनेक रोगोंपर लागू है, पर जिस रोगकी उपाय-योजना इस समय की जा रही है उसपर उसका अद्भुत गुण अनुभूत है।

तीन दवाएं बताई गईं। तीनों दवाएं रोगियोंकी जीभको कड़वी तो लगेंगी, पर परिणाममें वे अतिशय मधुर है। आत्म-परीक्षणसे मनका, मौनसे वाणीका और कर्मयोगसे शरीरका दोष झडे बिना आत्माको आरोग्य नहीं मिलेगा। इसलिए कड़वी कहकर दवा छोडी नही जा सकती। इसके सिवा यह दवा शहदके साथ लेनेकी है, जिससे इसका कड़वापन मारा जायगा। सब प्राणियोंमें भगवद्भाव होना मधु है। उसमें घोलकर ये तीन मात्राएं लेनेसे सब मीठा हो जायगा।

: ४ :

कविके गुण

एक सज्जनका सवाल है कि आजकल हममें पहलेकी तरह कवि क्यों नहीं है? इसके उत्तरमें नीचेके चार शब्द लिखता हूं—

आजकल कवि क्यों नही हैं? कविके लिए आवश्यक गुण नहीं हैं, इसलिए। कवि होनेके लिए किन गुणोंकी आवश्यकता होती है? अब हम इसी पर विचार करें।

कवि माने मनका मालिक। जिसने मन नहीं जीता वह ईश्वरकी सृष्टिका रहस्य नहीं समझ सकता। सृष्टिका ही नाम काव्य है। जबतक मन नहीं जीता जाता, राग-द्वेष शांत नहीं होते, तबतक मनुष्य इंद्रियोंका गुलाम ही बना रहता है। इंद्रियोंके गुलामको ईश्वरकी सृष्टि कैसे दिखाई दे? वह बेचारा तो तुच्छ विषय-सुखमें ही उलझा रहेगा। ईश्वरीय सृष्टि विषय-सुखसे परे है। इस परेकी सृष्टिके दर्शन हुए बिना कवि बनना असंभव है। सूरदासकी आंखे उनकी इच्छाके विरुद्ध विषयोंकी ओर

दौड़ा करती थीं। उन आंखोंको फोड़कर जब वह अंधे हुए तब उन्हें काव्यके दर्शन हुए। बालक ध्रुवने घोर तपश्चर्या द्वारा जब इंद्रियोंको वशमें कर लिया तब भगवान्ने अपने काव्यमय शंखसे उसके कपोल-को छू दिया और इस स्पर्शके साथ ही उस अज्ञान बालकके मुखसे साक्षात् वेदवाणीका रहस्य व्यक्त करनेवाला अद्भुत काव्य प्रकट हुआ। तुकारामने जब शरीर, इंद्रिय और मनको पूर्ण रूपसे भंग किया तभी तो महाराष्ट्रको अभंग-वाणीका लाभ हुआ। मनोनिग्रहके प्रयत्नमें जब शरीरपर चींटियोंके बमीठे चढ़ गए तब उसमेंसे आदि काव्यका उदय हुआ। आज तो हम इंद्रियोंकी सेवाके हाथ बिक गये हैं। इसलिए हममें आज कवि नहीं है।

समुद्र जैसे सब नदियोंको अपने उदरमें स्थान देता है उसी प्रकार समस्त ब्रह्मांडको अपने प्रेमसे ढक ले इतनी व्यापक बुद्धि कविमें होनी चाहिए। पत्थरमें ईश्वरके दर्शन करना काव्यका काम है। इसके लिए व्यापक प्रेमकी आवश्यकता है। ज्ञानेश्वर महाराज भैंसेकी आवाजमें भी वेद श्रवण कर सके, इसीलिए वह कवि है। वर्षा शुरू होते ही मेढकोंको टर्राता देख वसिष्ठको जान पड़ा कि परमात्माकी कृपाकी वर्षासे कृतकृत्य हुए सत्पुरुष ही इन मेढकोंके रूपमें अपने आनंदोद्गार प्रकट कर रहे हैं, और इस पर उन्होंने भक्ति-भावसे उन मेढकोंकी स्तुति की। यह स्तुति ऋग्वेदमें 'मंडूक-स्तुति'के नामसे ली गई है। अपनी प्रेमल वृत्तिका रंग चढ़ाकर कवि सृष्टिकी ओर देखता है। इसीसे उसका हृदय सृष्टिदर्शनसे नाचता है। माताके हृदयमें अपनी संतानके प्रति प्रेम होता है इसलिए उसे देखकर उसके स्तनोंका दूध रोके नहीं रुकता। वैसे ही सकल चराचर सृष्टिके प्रति कविका मन प्रेमसे भरा होता है, इससे उसके दर्शन हुए कि वह पागल हो जाता है। उसकी वाणीसे काव्यकी धारा बह निकलती है। वह उसे रोक ही नहीं पाता। हममें ऐसा व्यापक प्रेम नहीं। सृष्टिके प्रति उदार बुद्धि नहीं। पुत्र-कलत्र-गृहादिसे परे हमारा प्रेम नहीं गया है। फिर **'वृक्ष वल्ली आम्हां वनचरे सोयरीं'**—'वृक्ष, लता और वनचर हमारे

कुटुम्बी हैं'—यह काव्य हमे वहांसे सूझे।

कविको चाहिए कि वह सारी सृष्टिपर आत्मिक प्रेमकी चादर डाल दे। वैसे ही उसको सृष्टिके वैभवसे अपनी आत्मा सजाना चाहिए। वृक्ष, लता और वनचरोंमें उसे आत्मदर्शन होना चाहिए। साथ ही आत्मामे वृक्ष, वल्ली, वनचरोंका अनुभव करना आना चाहिए। विश्व आत्मरूप है, इतना ही नही बल्कि आत्मा विश्वरूप है यह कविको दिखाई देना चाहिए। पूर्णिमा के चन्द्रको देखकर उसके हृदय-समुद्रमें ज्वार आना तो चाहिए, किंतु पूर्णिमा के अभावमे उसके हृदयमे भाटा न होना चाहिए। अमावास्याके गाढ अंधकारमे आकाश बादलोंसे भरा होनेपर भी चन्द्रदर्शनका आनंद उसे मिलना चाहिए। जिसका आनंद बाहरी जगत्मे मर्यादित है वह कवि नहीं है। कवि आत्मनिष्ठ है, कवि स्वयंभू है। पामर दुनिया विषय सुखसे झूमती है, कवि आत्मानंदमे डोलता है। लोगोंको भोजनका आनंद मिलता है कविको आनंदका भोजन मिलता है। कवि संयमका संयम है और इसलिए स्वतंत्रताकी स्वतंत्रता है। टेनिसनने बहते झरनेमे आत्माका अमरत्व देखा, कारण अमरत्वका बहता झरना उसे अपनी आत्मामे दिखाई दिया था। कवि विश्व सम्राट् होता है, कारण वह हृदय सम्राट् होता है। कविको जाग्रत अवस्थामे महाविष्णुकी योगनिद्राके स्वप्नोंका ज्ञान होता है, और स्वप्नमे जाग्रत नारायणकी जगत् रचना देखने को मिलती है। कविके हृदयमे सृष्टि का सारा वैभव संचित रहता है। हमारे हृदयमे भूखका ज्ञान भरा हुआ है और मुखमे भीखकी भाषा। जहां इतना भान भी अभी स्पष्ट नहीं हुआ कि मै स्वतंत्र हूं अथवा मनुष्य हूं, वहां आत्मनिष्ठ काव्य प्रतिभाकी आशा नहीं की जा सकती।

कविमें 'लोक हृदयको यथावत् संप्रकाशित' करनेका सामर्थ्य होना चाहिए यह सभी मानते हैं, पर लोगोंको इस बातका भान नहीं होता कि सत्य निष्ठा इस सामर्थ्यका मूलाधार है। सत्यपूत वाणीसे अमोघ वीर्य (वीरता) उत्पन्न होता है। "जो सत्य होगा वही बोलूंगा," इस तरहके नैष्ठिक सत्याचरणके फलस्वरूप ऐसा अद्भुत सामर्थ्य प्रकट होता है कि

"जो बोला जायगा वही सत्य होगा।" भवभूतिने ऋषियोंके काव्य-कौशलका वर्णन किया है कि "ऋषि पहले बोल जाते और बादमें उसमें अर्थ प्रविष्ट होता।" इसका कारण है ऋषियोंकी सत्यनिष्ठा। **"समूलो वा एष परिशुष्यति। योऽनृतमभिवदति। तस्मान्नार्होम्यनृतं वक्तुम्।"**—जो असत्य बोलता है वह समूल शुष्क हो जाता है अतः मुझे असत्य नहीं बोलना चाहिए। प्रश्नोपनिषद्में ऋषिने ऐसी चिंता प्रदर्शित की है। जाज्वल्य सत्यनिष्ठामेंसे काव्यका जन्म होता है। वाल्मीकिने पहले रामायण लिखी, बादको रामने आचरण किया। वाल्मीकि सत्यमूर्त्ति थे अतः रामको उनका काव्य सत्य करना ही पड़ा। और वाल्मीकिके राम थे भी कैसे—**"द्विः शरं नाभिसंधत्ते रामो द्विर्नाभिभाषते।"**—राम न दोबारा बाण छोड़ते हैं और न दो बार बोलते हैं। आदिकविकी काव्य-प्रतिभाको सत्यका आधार था। इसीसे उनके ललाटपर अमरत्वका लेख लिखा गया। सृष्टिके गूढ रहस्य अथवा समाज-हृदयकी सूक्ष्म भावनाएं व्यक्त कर दिखाने का सामर्थ्य चाहते हो तो सत्यपूत बोलना चाहिए। हूबहू वर्णन करनेकी शक्ति एक प्रकारकी सिद्धि है। कवि वाचासिद्ध होता है, कारण वह वाचाशुद्ध होता है। हमारी वाचा शुद्ध नहीं है। असत्यको हम खपा लेते है, इतना ही नहीं, सत्य हमें खटकता है। ऐसी हमारी दीन दशा है। इसलिए कविका उदय नहीं होता।

कविकी दृष्टि शाश्वत कालकी ओर रहनी चाहिए। अनंत कालकी ओर नजर हुए बिना भवितव्यताका परदा नहीं खुलता। प्रत्यक्षसे अंध हुई बुद्धिको सनातन सत्य गोचर नहीं होते। सुकरातको विषका प्याला पिलानेवाले तर्कने सुकरातको मर्त्य देखा। "मनुष्य मर्त्य है और सुकरात मनुष्य है, इसलिए सुकरात मर्त्य है।" इससे आगेकी कल्पना उस टुटपुंजिये तर्कको न सूझी, लेकिन विषप्राशनके दिन आत्माकी सत्ताके संबंध मे प्रवचन करनेवाले सुकरातको परेका भविष्य स्पष्ट दिखाई देता था। भवितव्यताके उदरमे सत्यकी जयको छिपा हुआ वह देख रहा था। इस वजहसे वह वर्तमान युगके विषयमें बेफिक्र रहा। ऐसी उदासीन वृत्ति मनमे रमे बिना कवि-हृदयका

निर्माण नही हो सकता। संसारके सब रस करुणरसकी गुलामीमें लगे रहनेवाले हैं, यह बात समाजके चित्तपर अंकित कर देनेका भव-भूतिने अनेक प्रकारसे प्रयत्न किया। पर तत्कालीन विषयलोलुप उन्मत्त समाजको वह मान्य न हुआ। उसने भवभूतिको ही फेंक दिया। पर कविने अपनी भाषा न छोड़ी। कारण, शाश्वत कालपर उसे भरोसा था। शाश्वत कालपर नजर रखनेकी हमारी हिम्मत नही होती। चारों तरफसे घिरा हुआ हिरन जैसे हताश होकर आस-पास देखना छोड देता है और झट बैठ जाता है, वैसे ही हमारी विषय-त्रस्तबुद्धि से भावी कालकी ओर देख सकना नहीं होता। "को जाने कलकी? आज जो मिले वह भोग लो" इस वृत्तिसे काव्यकी आशा नही हो सकती।

ईशावास्योपनिषद्के निम्नलिखित ब्रह्मपर मंत्रमें ये अर्थ सुझाया गया है—

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः।
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः।

अर्थ—कवि (१) मनका स्वामी, (२) विश्व-प्रेमसे भरा हुआ, (३) आत्मनिष्ठ, (४) यथार्थभाषी और (५) शाश्वत कालपर दृष्टि रखनेवाला होता है।

मननके लिए निम्न-लिखित अर्थ सुझाता हू—

(१) मनका स्वामित्व = ब्रह्मचर्य, (२) विश्वप्रेम = अहिंसा, (३) आत्म-निष्ठता = अस्तेय, (४) यथार्थभाषित्व = सत्य, (५) शाश्वत कालपर दृष्टि = अपरिग्रह।

: ५ :

सादर या सार्थक

किसी आदमी के घरमे यदि बहुतसी शीशियां भरी धरी हों तो बहुत करके वह मनुष्य रोगी होगा, ऐसा हम अनुमान करते हैं। पर किसीके घरमें

बहुत-सी पोथियां पड़ी देखे तो हम उसे सयाना समझेंगे। यह अन्याय नहीं है क्या? आरोग्यका पहला नियम है कि अनिवार्य हुए बिना शीशीका व्यवहार न करो। वैसे ही जहा तक संभव हो पोथीमे आंखें न गड़ाना या कहिए आंखोंमें पोथी न गड़ाना, यह सयानेपनकी पहली धारा है। शीशीको हम रोगी शरीरका चिह्न मानते हैं। पोथीको भी—फिर वह सांसारिक पोथी हो चाहे पारमार्थिक पोथी हो—रोगी मनका चिह्न मानना चाहिए।

सदिया बीत गई, जिनके सयानेपनकी सुगंध आज भी दुनियामें फैली हुई है, उन लोगोंका ध्यान जीवनको साक्षर करनेके बजाय सार्थक करनेकी ओर ही था। साक्षर जीवन निरर्थक हो सकता है, इसके उदाहरण वर्तमान सुशिक्षित समाजमें बिना ढूंढे मिल जायगे। इसके विपरीत निरक्षर जीवन भी सार्थक हो सकता है, इसके अनेक उदाहरण इतिहासने देखे हैं। बहुत बार 'सु'-शिक्षित और 'अ'-शिक्षितके जीवनकी तुलना करनेसे **'अक्षराणामकारोऽस्मि'** गीताके इस वचनमे कहे अनुसार 'सु'के बजाय 'अ' ही पसंद करने लायक जान पडता है।

पुस्तकमें अक्षर होते हैं। इसलिए पुस्तककी संगतिसे जीवनको निरर्थक करनेकी आशा रखना व्यर्थ है। "बातोकी कढी और बातोका ही भात खाकर पेट भरा है किसीका?" यह सवाल मार्मिक है। कविके कथनानुसार पोथीका कुआ डुबाता भी नहीं और पोथीकी नैया तारती भी नहीं। 'अश्व' मानी 'घोड़ा' यह कोशमे लिखा है। बच्चे सोचते हैं 'अश्व' शब्दका अर्थ कोशमें लिखा है। पर यह सही नही है। 'अश्व' शब्दका अर्थ कोशके बाहर तबेलेमें बंधा खड़ा है। उसका कोशमे समाना संभव नहीं। 'अश्व' मानी 'घोड़ा' यह कोशका वाक्य इतना ही बतलाया है कि, 'अश्व शब्दका वही अर्थ है जो घोड़ा शब्दका है'। वह है क्या सो तबेलेमें जाकर देखो। कोशमें सिर्फ पर्याय शब्द दिया रहता है। पुस्तकमें अर्थ नही रहता। अर्थ सृष्टिमें रहता है। जब यह बात अक्लमे आयेगी तभी सच्चे ज्ञानकी चाट लगेगी।

जिसने जपकी कल्पना ढूंढ निकाली उसका एक उद्देश था—साक्षरत्वको संक्षिप्त रूप देना। 'साक्षरत्व बिल्कुल भूंकने ही लगा है' यह देखकर

'उसके मुंहपर जपका टुकडा फेक दिया जाय' तो बेचारेका भूंकना बंद हो जायगा और जीवन सार्थक करनेके प्रयत्नको अवकाश मिल जायगा, यह उसका भीतरी भाव है। वाल्मीकिने शतकोटि रामायण लिखी। उसे लूटनेके लिए देव, दानव और मानवके बीच झगडा शुरू हुआ। झगडा मिटता न देखकर शंकरजी पंच चुने गये। उन्होने तीनोको तैंतीस-तैंतीस करोड़ श्लोक बांट दिये। एक करोड़ बचे। यो उत्तरोत्तर बाटते-बाटते अंतमें एक श्लोक बच रहा। रामायणके श्लोक अनुष्टुप् छंदके हैं। अनुष्टुप् छंदके अक्षर होते है बत्तीस। शंकरजीने उनमेंसे दस-दस अक्षर तीनोको बांट दिये। बाकी रहे दो अक्षर। वे कौन-से थे? 'रा-म'। शंकरजीने वे दोनो अक्षर बंटवारेकी मजदूरीके नामपर खुद ले लिये। शंकरजीने अपना साक्षरत्व दो अक्षरोमे खत्म कर दिया, तभी तो देव, दानव और मानव कोई भी उनके ज्ञानकी बराबरी न कर सका। संतोने भी साहित्यका सारा सार राम-नाममे ला रखा है। पर 'अभाग्या नरा पामरा हे कले ना'—इस अभागे पामर नरको यह नहीं सूझता।'

संतोने रामायणको दो अक्षरोमे समाप्त किया। ऋषियोंने वेदों-को एक ही अक्षरमे समेट रखा है। साक्षर होनेकी हवस नहीं छूटती तो 'ओ'कारका जप करो, बस। इतनेसे काम न चले तो नन्हा-सा माण्डूक्य उपनिषद् पढो। फिर भी वासना रह जाय तो दशोपनिषद् देखो। इस मतलबका एक वाक्य मुक्तिकोपनिषद्में आया है। उससे ऋषिका इरादा साफ जाहिर होता है। पर ऋषिका यह कहना नहीं है कि एक अक्षरका भी जप करना ही चाहिए। एक या अनेक अक्षर घोखनेमे जीवनकी सार्थकता नहीं है। वेदोंके अक्षर पोथीमे मिलते हैं, अर्थ जीवन-मे खोजना है। तुकारामका कहना है कि उन्हे संस्कृत सीखे बिना ही वेदोंका अर्थ आ गया था। इस कथनको आजतक किसीने अस्वीकार नहीं किया। शंकराचार्यने आठवे वर्षमे वेदाभ्यास पूरा कर लिया, इससे किसी शिष्यने आश्चर्यचकित होकर किसी गुरुसे पूछा, "महा-राज, आठ वर्षकी उम्रमें आचार्यने वेदाभ्यास कैसे पूरा कर लिया?" गुरुने

गंभीरतासे उत्तर दिया, "आचार्यकी बुद्धि बचपनमें उतनी तीव्र नहीं रही होगी; इसीसे उन्हें आठ वर्ष लगे।"

एक आदमी दवा खाते-खाते ऊब गया। क्योंकि 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की।' अंतमें किसीकी सलाहसे उसने खेतमें काम करना शुरू किया। उससे नीरोग होकर थोड़े ही दिनोंमें हृष्ट-पुष्ट हो गया। अनुभवसे सिद्ध हुई यह आरोग्य-साधना वह लोगोंको बतलाने लगा। किसीके हाथमें शीशी देखी कि बड़े मनोभावसे सीख देता, "शीशीसे कुछ होने-जानेका नहीं, हाथमें कुदाल लो तो चंगे हो जाओगे।" लोग कहते, "तुम तो शीशियां पी-पीकर तृप्त हुए बैठे हो और हमें मना करते हो।" दुनियाका ऐसा ही हाल है। दूसरेके अनुभवसे सयानापन सीखनेकी मनुष्यकी इच्छा नहीं होती। उसे स्वतंत्र अनुभव चाहिए, स्वतंत्र ठोकर चाहिए। मैं हितकी बात कहता हूं कि "पोथियोंसे कुछ फायदा नहीं है। फिजूल पोथियोंमें न उलझो" तो वह कहता है, "हां, तुम तो पोथियां पढ़ चुके हो और मुझे ऐसा उपदेश देते हो!" "हां, मैं पोथियां पढ़ चुका, पर तुम न चूको इसलिए कहता हूं।" वह कहता है "मुझे अनुभव चाहिए"—"ठीक है। लो अनुभव। ठोकर खाने का स्वातंत्र्य तुम्हारा जन्मसिद्ध अधिकार है।" इतिहासके अनुभवोंसे हम सबक नहीं लेते। इसीसे इतिहासकी पुनरावृत्ति होती है। हम इतिहासकी कद्र करें तो इतिहाससे आगे बढ़ जायं। इतिहासकी कीमत न लगानेसे उसकी कीमत नाहक बढ़ गई है; पर जब इस ओर ध्यान जाय तब न!

: ६ :

दो शर्तें

स्वराज्यका आंदोलन अबतक प्रायः शहरोंमें ही चलता था। पर-अब धीरे-धीरे लोगोंके दिमागमें यह आने लगा है कि गांवोंमें जाकर

काम करना चाहिए। पर गांवोंमें जाना है तो ग्रामीण बनकर जाना चाहिए। शिक्षण किसलिए? 'उत्तम नागरिक बनानेका', ऐसा हम आजतक कहते आये हैं या अंग्रेजी विद्या हमसे वैसा कहलाती रही है। पर 'नागरिक' उर्फ 'शहराती' आदमी बनाना, शिक्षणकी यह नीति स्वराज्यके काम नहीं आनेवाली है। यह बात ध्यानमें रखे बिना चारा नहीं है। हमे समझना चाहिए कि ग्रामीण बनानेकी शिक्षा ही सच्चा शिक्षण है। उसी पायेपर स्वराज्यकी रचना की जा सकेगी।

गांवमे जाना चाहिए यह तो समझमें आने लगा है, पर ग्रामीण बनना चाहिए, यह आज भी मनमे उतना नहीं जमा है। यह वैसी ही बात हुई कि झोपड़ीमे तो जाना है पर ऊंटसे उतरना नहीं है। अभी यह समझना बाकी है कि ऊंटसे उतरे बिना झोंपड़ोमें प्रवेश नही हो सकता। मै गावमें जाऊंगा और शहरका सारा ठाट साथ लेकर जाऊगा। इसका मतलब यही है कि मैं गांवको शहर बनाऊंगा। इसी मतलबसे गांवमे जाना हो तो इससे तो न जाना ही अच्छा है। चाकरीकी शर्त है 'शिव बनकर शिवको पूजना।' किसानकी चाकरी करनी हो तो किसान बनकर ही की जा सकती है।

राष्ट्रीय पाठशालाओंको यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए। नाजुक शहराती बनानेकी हवस छोड़कर करारे किसान तैयार करनेका मनसूबा बांधना चाहिए। हमारे शिक्षित लोग अगर जरा जफाकश हुए तो अंग्रेजों-को वे चुभने लगेंगे, और वे जरूर उनके रास्तेमें अड़चनें पैदा करेंगे। पर हमे उसकी परवाह नही करनी चाहिए। अंग्रेज कहेंगे, "अंग्रेजी सीखो, नहीं तो अंधकारमें पड़े रहोगे। अंग्रेजी सीख जानेसे जगका ज्ञान तुम्हारी मुट्ठीमें आ जायगा।" हमें उनसे इतना ही कहना चाहिए कि "जगका ज्ञान कि जगणेका* ज्ञान, हमारे सामने यह 'नकद' सवाल है। सारा जग हमारी मुट्ठीमें गिनती करता है, इतना समझने

*जगणे = जीना

भरका ज्ञान हमें हो चुका है ।" अंग्रेजीके ग्रहणसे छूटना ही चाहिए। इसके बिना राष्ट्रीय विद्यालयोका तेज फैलनेवाला नहीं है। अंग्रेजी-पढ़ा आदमी किसानोंसे बोल भी नहीं सकता, किसान बननेकी बात तो दूर रही। उसकी और किसानकी भाषा ही नहीं मिलती । किसानोके लिए उसके दिलमे नफरत रहती है। गावमें रहना उसके लिए नामुमकिन है । इसलिए अंग्रेजीके मोहको धता बताये बिना उपाय नहीं। इसके मानी यह नहीं हैं कि कोई भी अंग्रेजी न पढ़े । अंग्रेजी पढ़नेके लिए हम आजाद हैं। पर अंग्रेजी पढ़नेके लिए हम बंधे न हों। राष्ट्रीय पाठशालाओंको अंग्रेजी सीखनेकी मजबूरी दूर कर देनी चाहिए और मजदूरीपर जोर देना चाहिए। शारीरिक श्रमके बिना गावके काव्यका अनुभव नहीं हो सकता।

मराठी पाठशालामे पढ़ते समय हमारे पाठयक्रममें 'सृष्टि-ज्ञान'की एक पोथी नियत थी। 'सृष्टि-ज्ञान'की भी पोथी ! इस पोथीके सृष्टि-ज्ञानके बलपर हम जगको अनाड़ी कहेगे । और गावमे जायगे भी तो उन अनाड़ी किसानोंको 'सिखाने'। हमे गावोमे जाना चाहिए पर मुख्यतः सीखनेके लिए, सिखानेके लिए नहीं । हमारे ध्यानमे यह बात नहीं आती कि गाववालोको सिखाने लायक हमारे पास दो-चार चीज़े हुई भी तो उनसे सीखनेकी दस-बीस चीज़े हैं। कारण, मदरसेके किताबी ज्ञानसे हमारी निगाह भटक गई है। जब हमे मजदूरीका महत्त्व सिखाया जायगा तभी हमारी दृष्टि स्थिर और स्वच्छ होगी, और गावमे काम करनेका तरीका भी सूझने लगेगा।

पर वर्त्तमान पद्धतिके अनुसार तालीम पाये हुए बहुतेरे लोग देश-सेवाके उम्मीदवार बनकर आते हैं। वे क्या करें ? मेरी समझमे उनका उपयोग हम जरूर कर सकेगे। पर इस बीचमे उन्हे दो चीज़ें सीख लेनी होगी—(१) अंग्रेजी विद्याकी सिखाई हुई बातें भूल जाना, (२) शारीरिक श्रमकी आदत डालना। ये दो बातें आ जानेपर वे काम कर सकेंगे। आज अपने देशको हरएक मजदूरकी मजदूरीकी जरूरत है। जितने लोग आयें कम हैं।

: ७ :

फायदा क्या है ?

कहते हैं, रेखागणितकी रचना पहले-पहल यूक्लिडने की। वह ग्रीस (यूनान) का रहनेवाला था। उसके समयमे ग्रीसके सब शिक्षितोंके दिमाग राजनीतिसे भर गये थे—या यो कहिए कि उनके दिमागोंमें राजनीतिके पत्थर भरे हुए थे। इस वजहसे रेखागणितके कद्रदा दुर्लभ हो गये थे और यूक्लिड तो रेखागणितपर मुग्ध था। फिर भी जैसे आज चरखेपर मुग्ध एक मानवने बहुतेरे राजनीति-विशारदोको चक्करमे डाल दिया है, वैसे ही यूक्लिडने भी बहुतेरे राजनीतिज्ञोको रेखाएं खीचनेमे लगा दिया था। रोज यूक्लिडके घरपर रेखागणितके शिक्षार्थियोका जमघट लगता और वह उन्हे अपना आविष्कार कुशलतापूर्वक समझाता।

बहुतेरे राजनीतिज्ञोको यूक्लिडकी ओर आकर्षित होते देख एक राजाके मनमे आया, 'हम भी चल देखे, कुछ फायदा होगा।' उसने हफ्ते भर यूक्लिडके पास रेखागणित सीखा। अंतमे उसने यूक्लिडसे पूछा, "मुझे आज रेखागणित सीखते सात दिन हो गये, पर यह न समझमे आया कि इससे फायदा क्या है !" यूक्लिडने गंभीरतापूर्वक अपने एक शिष्य से कहा, "सुनो जी, इन्हे चार आने रोजके हिसाबसे सात दिनके पौने दो रुपये दे दो।" फिर राजाकी ओर मुखातिब होकर कहा, "तुम्हारा इस हफ्ते-का काम पूरा हो गया, कलसे तुम कहीं और काम ढूंढो।" क्या वह राज-नीति-कुशल राजा झेंपनेके बजाय पौने दो रुपये पल्ले पड़नेसे खुश हुआ होगा ? हम लोगोकी मनोवृत्ति उस ग्रीक राजाकी-सी बन गई है।

हर बातमे फायदा देखनेकी बहुतोको आदत पड़ गई है। सूत कातने-से क्या फायदा है, इससे लेकर स्वराज्य हासिल होनेतकके फायदेके बारेमें खचियो सवाल होते हैं। ये फायदावादी लोग अपनी फायदेवाली अक्लको जरा और आगे हांक ले जायं तो तत्त्वज्ञानकी टेठ चोटीपर पहुच

जायगे। तत्त्वज्ञानके शिखरसे ये लोग केवल एक प्रश्नके ही पीछे हैं और वह प्रश्न है—'फायदसे भी क्या फायदा है ?' एक लड़का अपने बापसे कहता है, "बाबूजी, गाय भैंसका फायदा तो समझमें आता है कि उनसे हमे रोज दूध पीनेको मिलता है लेकिन कहिए तो इन बाघ-बघेरो और सापाके होनेसे क्या फायदा है ?" बाप जवाब देता है, "समूची सृष्टि मनुष्य के फायदेके लिए ही है, इस बेकारकी गलतफहमीमे हम न रहे, यही इनका फायदा है।"

कालिदासने एक जगह मनुष्यको 'उत्सव प्रिय' कहा है। कालिदासका मनुष्य-स्वभावका ज्ञान गहरा था और इसीसे वह कवि कहलानेके अधिकारी हुए। सभीका अनुभव है कि मनुष्यको उत्सव प्रिय है, लेकिन क्या प्रिय है ? पाठशालाके लड़कोंको रविवारको छुट्टी क्यो प्यारी लगती है ? छ दिन दीवारोंके घेरेमें घिरे रहनेके बाद रविवारको जरा स्वच्छदतासे सास ले पाते हैं, इस कारण। मनुष्यको उत्सव प्यारा क्यों है, इसका भी उत्तर ऐसा ही है। दु खासे दबा हुआ हृदय उत्सवके कारण हलका हो जाता है। हमारे घर अट्ठारह बिस्वे दारिद्रय रहता है इसीसे ही लडकेका ब्याह रचनेपर हम जेवनारमें अट्ठारह दूना छत्तीस व्यजन बनाना नहीं भूलते। साराश यह कि मनुष्य उत्सव प्रिय है, यह उसके जीवनके दु खमय होनेका सबूत है। वैसे ही आज जो हमारी बुद्धि सिर्फ फायदावादी बन गई है यह हमारे राष्ट्रके महान् बौद्धिक दिवालियेपनका सबूत है।

हमेशा फायदेकी शरण जानेकी बान पड़ जानेसे हमारे समाजमें साहस का ही अभाव सा हो रहा है। इसके कारण ब्राह्मण वृत्ति, क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्ति लुप्त सी हो रही है। ब्राह्मणके मानी हैं साहसकी साक्षात् प्रतिमा। मृत्युके परले पारकी मौज लेनेके निमित्त जीवनकी आहुति देनेवाला ब्राह्मण कहलायेगा। फायदा कहेगा, "मौतके बादकी बात किसने देखी है ? हाथका घड़ा पटककर बादलका भरोसा क्यो करें ? " फायदेके कोशमें साहस शब्द मिलना ही सभव नहीं। और मिल भी गया तो उसका अर्थ लिखा होगा 'मूर्खता'। यदि फायदेके कोशसे जीवन-गीताकी सगति बिठाई जाय तो फल-

त्यागकी अपेक्षा त्यागका फल क्या है, यह प्रश्न पैदा हो जायगा। ऐसी स्थितिमें सच्ची ब्राह्मणवृत्तिके लिए ठौर ही कहां रहेगा? "त्याग करना, साहस करना, यह सब ठीक है।" फायदावादी कहता है—"पर क्या त्यागके लिए ही त्याग करनेको कहते हो?" "नहीं, त्यागके लिए त्याग नहीं कहता—फायदेके लिए त्याग सही।" "पर वह फायदा कब मिलना चाहिए, इसकी कोई मीयाद बताइएगा या नहीं?" "तुम्हारा कोई कायदा है कि फायदा कितने दिनमें मिलना चाहिए?" वह कहेगा—"त्यागके दो दिन पहले मिल जाय तो अच्छा है।" समर्थ गुरु रामदासने 'लोगोंके लालची स्वभाव'का वर्णन करते हुए कार्यारंभमें देव (ईश्वर) का नाम लेना चाहिए', इस कथन-का अर्थ फायदेके कोशके अनुसार किया है—"कार्यारंभी देव, अर्थात् कामके शुरूमें कुछ तो देव (दो)।"सारांश, फल ही देव है और वह काम करनेके पूर्व मिलना चाहिए, इसका नाम है बाफायदा तत्त्वज्ञान! जहां (बेचारे) देव (ईश्वर) की यह दशा है वहां ब्राह्मणवृत्तिकी बात ही कौन पूछता है?

परलोकके लिए इस लोकको छोड़नेवाला साहस तो सरासर पागलपन है, इसलिए उसका तो विचार ही नहीं करना है। इससे उतरकर हुई क्षात्रवृत्ति उर्फ मिलावटी पागलपन। इह-लोकमें बाल-बच्चे, अड़ोसी-पड़ोसी या देशकी रक्षाके लिए मरनेकी तैयारीका नाम है क्षात्रवृत्ति। पर 'आप मरे तो जग डूबा' यह फायदे का सूत्र लगाकर देखिए तो इस मिलावटी पागलपनका मतलब समझमें आ जायगा। राष्ट्रकी रक्षा क्यों, अथवा स्वराज्य क्यों? मेरे फायदेके लिए। और जब मैं ही चल बसा तो फिर स्वराज्य लेकर क्या होगा? यह भावना आई कि क्षात्रवृत्तिका साहस बिदा हुआ।

बाकी रही वैश्यवृत्ति। पर वैश्यवृत्तिमें भी कुछ कम साहस नहीं चाहिए! अंग्रेजों ने दुनिया भरमें अपना रोजगार फैलाया तो बिना हिम्मतके नहीं फैलाया है। इंग्लैंडमें कपासकी एक डोडी भी नहीं पैदा होती और आधेसे अधिक हिंदुस्तानको कपड़ा देनेकी करामात कर दिखाई! कैसे?

इग्लैंडके इतिहासमें समुद्री यात्राओंके प्रकरण साहसोसे भरे पड़े हैं। कभी अमेरिकाकी यात्रा तो कभी हिंदुस्तानका सफर, कभी रूसकी परिक्रमा तो कभी सु आशा अतरीपके दर्शन, कभी नील नदीके उद्गमकी तलाश है तो कभी उत्तरी ध्रुवके किनारे पहुचे हैं। यों अनेक सकटभरे साहसोंके बाद ही अग्रेजोंका व्यापार सिद्ध हुआ है। यह सच है कि यह व्यापार अनेक राष्ट्रोंकी गुलामीका कारण हुआ। इसीसे आज वह उन्हींकी जड़ काट रहा है। पर जो हो, साहसी स्वभावको तो सराहना ही होगा। हममें इस वैश्यवृत्तिका साहस भी बहुत-कुछ नहीं दिखाई देता। कारण—फायदा नही दिखता।

जबतक तकलीफ सहनेकी तैयारी नही होती तब तक फायदा दिखनेका ही नहीं। फायदेकी इमारत नुकसानकी धूपमें बनी है।

: ८ :

गीता-जयंती

कुरुक्षेत्रकी रणभूमिपर अर्जुनको गीताका उपदेश जिस दिन दिया गया वह मागशीर्ष शुक्ला एकादशीका दिन था, ऐसा विद्वानोंने निश्चित् किया है। इसे सही मानकर चलनेमें कोई हर्ज नहीं है। इससे 'मासाना मार्गशीर्षोऽहं'—महीनोंमे मार्गशीर्ष महीना मेरी विभूति है, इस वचनको विशेष अर्थ प्राप्त होता है। उस दिन हिंदुस्तान भरमे सर्वत्र गीताका स्वाध्याय—प्रवचन हो ऐसी सूचना की गई है।

सुझाव उचित ही है। पर यह ध्यानमें रखना आवश्यक है कि गीताधर्मका प्रचार केवल प्रवचन और श्रवणसे न होगा। गीता जबानी जमा खर्चका शास्त्र नहीं, किंतु आचरण-शास्त्र है। उसका प्रचार आचरण बिना और किसी तरह भी नही होनेका। गीताका धर्म खुला हुआ धर्म है। किसीके लिए उसके सुननेकी मनाही नहीं। स्त्री, वैश्य, शूद्र, जिनमें वेदके गहरे कुएंसे पानी

निकालनेकी शक्ति नहीं है उनके लिए गीताके बहते झरनेसे मनमाना पानी पानेकी सुविधा संभव है। गीता-मैयाके यहां छोटे-बड़ेका भेद नहीं है, बल्कि खरे खोटेका भेद है। जिसकी तपश्चर्या करनेकी तैयारी नहीं है, जिसके हृदयमें भक्तिका प्रवाह नहीं, सुननेकी जिसकी तीव्र इच्छा नहीं, अथवा जिसकी बुद्धिमें निर्मत्सर-भाव नहीं उसके सामने यह रहस्य भूलकर भी प्रकट मत करना—भगवान्ने अर्जुनको यह आदेश दिया है।

गीताके प्रचारके मानी हैं निष्काम कर्मका प्रचार; गीताके प्रचारके मानी है भक्तिका प्रचार; गीताके प्रचारके मानी है त्यागका प्रचार। यह प्रचार पहले अपनी आत्मामें होना चाहिए। जिस दिन उससे आत्मा परिपूर्ण होकर बहने लगेगी उस दिन वह दुनियामें फैले बिना न रहेगा। गीतापर आजतक हिंदुस्तानमें प्रवचनोंकी कमी नहीं रही है। तरह-तरहकी टीकाएं भी लिखी गई हैं। गीताके तात्पर्यके संबधमे समाचारपत्रों आदिमे पुराने, नये शास्त्री-पंडितोंका वाद-विवाद भी काफी हुआ है। पर अनुभवसे यह नहीं जान पड़ता कि इनसे साक्षात् निष्काम कर्मको कुछ उत्तेजन मिला हो। उलटा, उनसे रजोगुणका तो जोर बढ़ा है। मन-भर चर्चाकी अपेक्षा कन-भर अर्चा श्रेष्ठ है। 'उठ भोर रामका चितन कीजे' इस वाक्यके लिखनेवालेका उद्देश्य यह नहीं है कि इसे घोखता बैठे, बल्कि यह है कि प्रातःकाल उठकर रामका चिंतन करें।

गीताका रहस्य गीताकी पोथीमें छिपा हुआ नहीं है। यह तो खुला हुआ है। भगवान् खुद ही कहते हैं कि मैंने उसे सूर्यसे कहा है। इतना खुला है कि जिसके आंखे हो वह उसे देख सकता है। और यदि छिपा हुआ ही है तो गीताकी पोथीमें तो निश्चय ही नहीं छिपा है। वह हृदयकी गुफामे छिपा है। इस गुफाके मुंहपर दुर्वर्तनके पत्थरोंका ढेर लग गया है। उन्हे हटाकर अंदर देखना चाहिए। उनके लिए मेहनत करनी पड़ेगी। गीता 'कुरु' क्षेत्रमे कही गई है। सस्कृतमे 'कुरु' का अर्थ है कर्म कर। कुरुक्षेत्र मानी कर्मकी भूमि। इस कर्मकी भूमिकापर गीता कही गई है। और वहीं उसे मेहनतके कानोंसे सुनना है।

बहुतेरोंकी समझ है कि मिशनरी लोग जैसे बाइबिलकी प्रतियां मुफ्त

बांटते हैं, उसपर व्याख्यान देते फिरते हैं, कोई सुने न सुने, अपना राग अलापे जाते हैं, वैसे ही हम गीताके बारेमे करें तो हमारे धर्मका प्रचार होगा। पर यह कोरा वहम है। मिशनरियोंने जो बहुत ही थोड़ा सा सच्चा धर्म-प्रचार किया है वह उनमेके कुछ सज्जनोकी सेवाका फल है। बाकीका उनका धर्म-प्रचार दभ है। पर इस दभसे उनके कामको नुकसान पहुचा है। उनके अनुकरणसे हमारा कोई लाभ नही होगा।

अत गीता-जयतीके दिन गीताके प्रचारकी बाह्य कल्पनापर जोर न देकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि हाथसे कुछ-न कुछ निष्काम सेवा बने। साथ ही, भक्तियुक्त चित्तसे यथाशक्ति गीताका थोड़ा-सा पाठ करना भी उपयुक्त है।

: ९ :

पुराना रोग

अस्पृश्यताके हिमायती एक दलील यह पेश किया करते है कि यह पुरा न कालस चली आ रही है। पर यह बात दलील कैसे हो सकती है यह समझना कठिन है। माना कि 'पुरानी पू जी'की रक्षा करनी चाहिए। पर रक्षामें बढाना, जीर्णोद्धार करना वगैरह कई बाते शामिल हैं। अपना पुराना घर ता प्यारा लगता है। पर क्या उसमेके चूहो और छछू दरोके बिल भी प्यारे होगे? पेटकी सतान प्यारी होनेसे क्या पेटका रोग भी प्यारा होगा? और वह भी पुराना रोग? फिर उसका इलाज कराये क्या? जीर्णोद्धारमें भी बाधा दनेवाली इस जीर्ण भक्तिको क्या कहा जाय? साक्षात् उपनिषद्के ऋषियोने यह स्पष्ट आज्ञा की है, "यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयो-पास्यानि। नो इतराणि।"—हमारे जो अच्छे काम हैं उनका अनुकरण करो, दूसरे कामोका नहीं। हम अपनी विवेक-बुद्धिसे इस्तीफा देकर साफ तौरसे उनकी आज्ञा-भग करते है और उलटे मानते हैं कि हम उनकी आज्ञा पालते

है। यह आत्मवंचना नहीं तो क्या है।

इसमें भी 'भूतको भागवतका आधार' मिलने वाली बात हो जानेपर तो आत्मवंचनाकी हद हो जाती है। कहते हैं, अस्पृश्यताके लिए आधार है, आदि शंकराचार्यका! अद्वैतके सिद्धांतका प्रतिपादन करना जिनका जीवन-कार्य था, अमंगल 'भेदाभेद भ्रम'को उनका आधार! कैसा अचरज है! संतोंका आधार लेना ही हो तो उनके उत्तरचरित्रसे लिया जाता है, पूर्व-चरित्रमेसे नही लिया जाता। शंकराचार्यके चरित्रमे जो चाडालकी कथा है वह उनके पूर्वचरित्रकी है। उस आधारपर अगर अस्पृश्यता मान्य ठहराई जाय तो वाल्मीकिके (पूर्वचरित्रके) आधारपर ब्रह्महत्या भी मान्य ठहरेगी! और फिर अमान्य क्या रह जायगा? कारण, साधु हुआ तो भी साधुत्वकी योग्यता प्राप्त होनेके पूर्व तो वह साधु नही ही होता। उस समयके उसके चरित्रमें चाहे जो मिल जायगा। इसीलिए कहावत है, "ऋषिका कुल मत देखो।" देखना ही हो तो उसका उत्तरचरित्र देखना चाहिए और सो भी विवेक साथ रखकर। पूर्वचरित्र देखनेसे क्या मतलब?

आचार्य चरित्रमें वर्णित चाडालकी कहानी यो है—आचार्य एक बार काशी जा रहे थे और उसी रास्तेपर एक चाडाल चला आ रहा था। उन्हो-ने उसे हट जानेको कहा। तब चाडालने उनसे पूछा—"महाराज, आपने अन्नमय शरीरसे मेरे अन्नमय शरीरको आप परे हटाना चाहते है या अपने-में स्थित चैतन्यसे मेरे अदरके चैतन्यको? शरीर किसीका हो, वह स्पष्टत: 'गदगीकी गठरी' है। और आत्मा तो सर्वत्र एक और अत्यत शुद्ध है। ऐसी स्थितिमे अस्पृश्यता किसकी और किसके लिए?" यह उसके प्रश्नका भाव है। पर इतना कहकर ही वह चाडाल चुप नही रहा। उसने फटकार और आगे बढ़ाई—"गगाजलके चद्रमा और हमारे हौजके चद्रमामे कुछ अन्तर है? सोनेके कलसेके आकाशमे और हमारे मिट्टीके घडेके आकाशमे कुछ फर्क है? सर्वत्र आत्मा एक ही है न? फिर यह ब्राह्मण और वह अंत्यजका भेद-भ्रम आपने कहासे निकाला?"—"**विप्रोऽयं श्वपचोऽयमित्यपि महान् कोऽयं विभेदभ्रमः।**" इतनी फटकार सुनकर आचार्यके

कान ही नहीं आखें भी खुल गई और नम्रतासे उसे नमस्कार करके बोले, "आप सरीखा मनुष्य, फिर चाहे वह चांडाल हो या ब्राह्मण, मेरे लिए गुरुस्थानीय है।"—"चांडालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम।" इस बात-चीतसे क्या अनुमान निकाला जाय यह पाठक ही तय कर लें।

जिस रास्ते अपने बडे-बडे गये उस रास्ते हमें जाना चाहिए, यह मनुने भी कहा है। पर वह 'सन्मार्ग' हो तो, यह उन्हींका बताया हुआ अपवाद है। वह श्लोक देकर यहीं समाप्त करता हूँ।

येनास्य पितरो याता येन याता. पितामहाः।
तेन यायात् 'सतां मार्गं' तेन गच्छन्न रिष्यति॥

: १० :

श्रवण और कीर्तन

प्रह्लादने नौ प्रकारकी भक्ति कही है। उनमे भक्तिके दो प्रकार श्रवण और कीर्तनको बिल्कुल आरंभमे रखा है। भक्ति मार्गमे श्रवण-कीर्तनकी बडी महिमा गाई गई है। सुनी हुई वस्तुको बार-बार सुनना, कही हुई ही बातको बार-बार कहना भक्तोंकी रीति है। तीनों लोकमे विचरना और बराबर बोलते रहना नारद-सरीखोंका जन्मका धधा है। उच्च वर्गके लोगोंमे, मध्यम वर्गके लोगोंमे, निचले वर्गके लोगोंमे—तीनों लोकोंमे ही नारदजीकी फेरी होती है और बराबर कीर्तन चलता है। कीर्तनका विषय एक ही है। वही भक्तवत्सल प्रभु वही पतित पावन नाम। दूसरा विषय नहीं, दूसरी भाषा नहीं। वही गाना, वही रोना, वही कहना, वही चिल्लाना। न आलस्य है, न परेशानी, न थका वट है, न विश्राम, गाते गाते फिरना और फिरते-फिरते गाना!

जैसे नारद-सरीखोंके लिए निरतर गाना है वैसे धर्मराज-सरीखोंके लिए सतत सुनना। महाभारतके वनपर्व और शातिपर्व ये दोनों विशाल पर्व धर्मराज

की श्रवण-भक्तिके फल हैं। वनवासमें रहते समय जो कोई ऋषि मिलने आता धर्मराज उसकी खुशामद करते। भक्ति-भावसे प्रणिपात करके जो सेवा बनती करते और जहां ऋषिने कुशल-प्रश्न किया कि अपनी करुण-कहानी कहनेका निमित्त बनाकर लगते प्रश्न पूछने, "महाराज, द्रौपदीपर आज जैसा संकट है, वैसाआजतक कभी किसीपर पड़ा था क्या ?" वह कहते, "क्या पूछते हैं यह आप ? बड़ो-बड़ोंने जो कष्ट सहे हैं उनके मुकाबलेमे तो द्रौपदीका और आपका कष्ट किसी गिनतीमें नहीं है। सीताको, रामको, क्या कम कष्ट सहने पड़े ?" धर्मराज फिर पूछते, "सो कैसे ?" इतना सहारा पा जानेके बाद ऋषिका व्याख्यान चलता। सारी राम-कहानी अथसे इतितक वह कहते और यह प्रेम-युक्त चित्तसे सुनते। दूसरे किसी अवसरपर ऐसे ही कोई ऋषि आकर नल-दमयंतीका नाम ले लेते तो धर्मराज फौरन सवाल करते, "वह क्या कथा है ?" अब रामकी सीता कौन थी और नल-दमयंतीकी कथा क्या है, इतिहासका इतना अज्ञान धर्मराजमे होना कैसे माना जा सकता है ? पर जानी हुई कथा भी सतोंके मुखसे सुननेमे एक विशेष स्वाद होता है। इसके सिवा वही वस्तु बराबर सुननेसे विचार दृढ होता है। इसलिए धर्मराज ऐसे श्रवण-प्रेमी बन गए थे।

पर पुरानी बात जाने दीजिए। बिल्कुल इसी जमानेका उदाहरण लीजिए। नारदकी तरह ही तुकाराम महाराजने अंतिम घड़ीतक कीर्तन-भक्तिकी गूंज जारी रखी। रोज रातको भगवान्के मन्दिरमे जाकर कीर्तन करनेका उनका क्रम आमरण अबाधित रूपसे चला। लोग जायं, न जायं, भगवान्के सामने कीर्तन तो होगा ही। न सुननेवाले देवताको भी कीर्तन सुनाना जिनका व्रत हो गया था वे यदि सुननेवाले देवताओंको 'यथाधिकार' उपदेश करनेका काम जोरोंसे करें तो इसमे आश्चर्य ही क्या ? समाजकी बिल्कुल निचली श्रेणीसे लेकर ठेठ ऊपरकी श्रेणीतक सबको तुकाराम महाराजने भगवान्का नाम सुनाया। घरमे, मंदिरमे, घाटमे, बाट सर्वत्र वही एक-सा सुर। पत्नीको, बेटीको, भाईको, जमाईको, गांवके मुखियाको, देशके शासकको, शिवाजी महाराजको, रामेश्वर भट्टको, अंबाजी बुवाको—सबको तुकाराम महाराजने हरिनामका

एक ही उपदेश किया और आज भी उनकी अभंग वाणी वही काम अव्याहत रूपसे कर रही है।

इधरके इतिहासमें जैसे हमें तुकाराम-सरीखे 'सदा बोलते' भक्तिके स्रोत मिलते हैं वैसे ही उस स्रोतसे नहर काटकर राष्ट्रके धर्म-क्षेत्रकी बागवानी करनेवाले शिवाजी-जैसे श्रवण दक्ष किसान भी देखनेको मिलते हैं। पच्चीस-पच्चीस मीलकी दूरीसे कीर्तन सुननेके लिए बराबर दौड़ते जाना उनका नियम था। और जो कुछ सुनना वह आलस-वालस झाड़कर जी लगाकर सुनना, और जैसा सुनना उसके अनुसार आचरण करनेका बराबर प्रयत्न करना, इसीको श्रवण कहना चाहिए। शिवाजी महाराजने सतत श्रवण किया। कोई सत्पुरुष मिल गए तो उनसे सुननेका मौका उन्होंने सहसा हाथसे नहीं जाने दिया। तभी सब उद्योगोंमें लगानेके बाद भी बच रही इतनी स्फूर्तिका खजाना उनके हृदयमें जमा हो सका।

भक्ति-मार्गमें जिसे श्रवण-भक्ति और कीर्तन-भक्ति कहते हैं उसीको उपनिषद्में स्वाध्याय और प्रवचन नाम दिया है। नाम भिन्न होनेपर भी अर्थ एक ही है। स्वाध्यायके मानी हैं सीखना और प्रवचनके मानी सिखाना। इस सीखने और सिखानेपर उपनिषदोंका उतना ही जोर है जितना श्रवण और कीर्तनपर' संतोंका। "सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।"— सच बोल, धर्मपर चल और स्वाध्यायसे मत चूक, इन तीन सूत्रोंमें ऋषिकी सारी सिखावन आ गई। स्वाध्याय और प्रवचन अर्थात् सीखने-सिखानेका महत्त्व ऋषियोंकी दृष्टिमें इतना ज्यादा था कि मनुष्यके लिए नित्य आचरण करने योग्य धर्मके तत्त्व बतलाते हुए उन्होंने प्रत्येक तत्त्वके साथ स्वाध्याय-प्रवचनका पुनः-पुनः उल्लेख किया है। 'सत्य और स्वाध्याय-प्रवचन', 'तप और स्वाध्याय-प्रवचन' 'इंद्रिय-दमन और स्वाध्याय-प्रवचन', 'मानसिक शांति और स्वाध्याय-प्रवचन', इस प्रकार प्रत्येक कर्त्तव्यको अलग-अलग कहकर हर बार ऋषिने स्वाध्याय-प्रवचनका हेतु और विषय तो बतलाया ही, साथ ही उसका महत्त्व भी बता दिया है।

हमारा स्वराज्य -आंदोलन अत्यंत व्यापक और गंभीर आंदोलन है। वह

एक ओर तीस करोड़ लोगोंसे—मानवप्रजाके एक पंचमांशसे—संबंध रखनेवाला होनेके कारण विशाल है, और दूसरी ओर आत्माको स्पर्श करनेवाला होनेके कारण गंभीर है।

तीस करोड़ आदमियोंसे ही इस आंदोलनका संबंध है यह कहना भी संकुचित है। व्यापक-दृष्टिसे देखा जाय तो मालूम होगा कि सारे मानव-जगतकी भवितव्यता इस आंदोलनसे संबंधित है। पैरका नन्हा-सा कांटा निकालना भी सिर्फ पांवका सवाल नहीं होता। सारे शरीरका हित-संबंध उससे रहता है। फिर बिगड़े हुए कलेजेको सुधारनेका सवाल सारे शरीरको सुधारने-का सवाल कैसे नहीं है? अवश्य यह सारे शरीरका सवाल है। और कोई आसान सवाल नहीं है, जीने-मरनेका सवाल है—'यक्ष-प्रश्न' है। जवाब दो, नहीं तो जान दो, इस तरहका सवाल है। कालकी दृष्टिसे अत्यंत प्राचीन, लोक-संख्याके हिसाबसे जगतके पांचवें हिस्सेके बराबर, विस्तारकी दृष्टिसे रूस-को छोड़कर पूरे यूरोपके बराबर, संस्कृतिमें उदार, उच्च, अद्‌भुत, प्राकृतिक, संपत्तिमें जगतके लिए ईर्ष्याकी वस्तु, हिंदू और बौद्ध इन दो विश्वव्यापक धर्मोंको जन्म देनेवाली और इस्लामका विस्तार-क्षेत्र बनी हुई, वाङ्‌मय, वैभवमें अद्वितीय यह भारत-भूमि ब्रिटिश साम्राज्यके मुकुटका 'हीरा' ही नहीं बल्कि साम्राज्यकी निगली हुई हीरेकी कनी है—इसके जीवन मरणपर दुनिया-का भाग्य अवलंबित है। इसलिए आजके हमारे स्वराज्य-आंदोलनका संबंध सिर्फ तीस करोड़ भारतीय जनतासे ही न होकर सारे जगतसे है। और दूसरी ओर यह आंदोलन आत्माको स्पर्श करने वाला है यह कहनेसे उसकी सच्ची गंभीरताकी कल्पना नहीं होती। स्वराज्यका यह आंदोलन आत्म-शुद्धि करनेवाला है। और आत्मशुद्धिका वेग साक्षात् परमात्मासे भेंट किये बगैर थमनेवाला नहीं। इसलिए इस आंदोलनका घनफल परमात्मासे गुणित मनुष्यकी दुनियाका क्षेत्रके गुणनफलके बराबर होगा।

आंदोलनके इतने विशाल और गंभीर होनेकी वजहसे उसकी सिद्धिके लिए दो बातोंकी फिक्र रखना जरूरी है। एक तो उसे किसी खूंटेसे कसकर

बांध देना चाहिए, नहीं तो वह हाथसे निकल भागेगा और दूसरे उसके तत्त्वोंका श्रवण-कीर्तन जारी रखना चाहिए।

इनमें आंदोलनका खूंटा अब निश्चित हो गया है। चरखा हमारे सारे आंदोलनका खूंटा है। इसके चारों ओर आंदोलनका चक्र फिराते रहना चाहिए। सुविधा और आवश्यकतानुसार कछुआ अपने अंग कभी अपने मजबूत कवचके अंदर खींच लेता है और कभी बाहर फैला देता है। वैसे ही चरखेका मजबूत खूंटा कायम करके उसके आश्रयमें हम आंदोलनके दूसरे अवयवोंको कभी बाहर पसारते, कभी भीतर बटोरते चलेंगे। आज हमने अपने आंदोलनके अवयव भीतर खींच लिये हैं। मौका पड़नेपर फिर बाहर पसारेंगे। पर कभी इस चरखेके खूंटेको छोड़ना नहीं होगा। ब्रह्म 'सर्वगत सदासम' है, इसलिए कोई यह नहीं कह सकता कि वह कब चकमा देकर निकल भागेगा। इसलिए उस ब्रह्मको किसी मूर्तिमें कैद किये बिना भक्तका काम नहीं चलता। वैसे ही आंदोलन विश्वव्यापी हुआ कि कुछ भी हाथ नहीं लगता। इसलिए उस आंदोलनकी चरखेमें प्राण-प्रतिष्ठा है, और कुछ हो या न हो, इस मूर्तिकी पूजामें कभी चूक नहीं होनी चाहिए।

और इतने ही महत्त्वकी दूसरी बात है आंदोलनके तत्त्वोंके सबके कानोंपर बराबर पड़ते रहनेकी व्यवस्था। वास्तवमें ये दोनों बातें अलग-अलग नहीं हैं। एक ही बातके दो अंग हैं। कीर्तन करना हो तो सामने मूर्तिका होना जरूरी है। देवताकी मूर्तिके बिना कीर्तन नहीं हो सकता। गंगाका पानी समुद्रकी ओर जाता है तो तीरपरके वृक्षोंका पोषण करता हुआ जाता है। पर जाता है समुद्रकी ओर ही। वैसेही कीर्तनकी धारा बहती है, भगवान्‌के समुखही सुननेवाले तीरपरके वृक्षोंके समान हैं। स्वराज्यके आंदोलनकी स्थापना चरखेकी मूर्तिमें करनी और उस मूर्तिके सामने अखंड कीर्तनकी जय-जयकार जारी रखना है। यह भजन-कार्य हरएक शहरमें, हरएक गांवमें, हरएक घरमें, शुरू होना चाहिए। कीर्तनकी गुंजारसे दुनियाको गुंजा देना चाहिए। यह हम कर पाये तो यह पक्की बात है कि एक क्षणमें राष्ट्रका कायापलट हो जाय।

: ११ :

रोजकी प्रार्थना

ॐ असतो मा सद्गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय॥

हे प्रभो, मुझे असत्यमेसे सत्यमे ले जा। अधकारमेसे प्रकाशमे ले जा। मृत्युमेसे अमृतमे ले जा।

इस मत्रमे हम कहा है, अर्थात् हमारा जीव-स्वरूप क्या है, और हमे कहा जाना है, अर्थात् हमारा शिव-स्वरूप क्या है, यह दिखाया है। हम असत्यमे हैं, अधकारमे है, मृत्युमे है। यह हमारा जीव-स्वरूप है। हमे सत्यकी ओर जाना है, प्रकाशकी ओर जाना है, अमृत्वको प्राप्त कर लेना है। यह हमारा शिव-स्वरूप है।

दो बिदु निश्चित हुए कि सुरेखा निश्चित हो जाती है। जीव और शिव ये दो बिदु निश्चित हुए कि परमार्थ मार्ग तैयार हो जाता है। मुक्तके लिए परमार्थ-मार्ग नही है, कारण उसका जीव-स्वरूप जाता रहा है। शिव स्वरूपका एक ही बिदु बाकी रह गया है, इसलिए मार्ग पूरा हो गया। जड़के लिए परमार्थ-मार्ग नही है। कारण, उसे शिव-स्वरूपका भान नही है। जीव-स्वरूपका एक ही बिदु नजरके सामने है, इसलिए मार्ग आरभ ही नही होता। मार्ग बीचवाले लोगोंके लिए है। बीचवाले लोग अर्थात् मुमुक्षु। उनके लिए मार्ग है। और उन्हीके लिए इस मत्रवाली प्रार्थना है।

'मुझे असत्यमेसे सत्यमे ले जा' ईश्वरसे यह प्रार्थना करनेके मानी हैं, 'मै असत्यमेसे सत्यकी ओर जानेका बराबर प्रयत्न करूंगा', इस तरहकी एक प्रतिज्ञा-सी करना। प्रयत्नवादकी प्रतिज्ञाके बिना प्रार्थनाका कोई अर्थ ही नही रहता। यदि मै प्रयत्न नही करता और चुप बैठ जाता हू, अथवा विरुद्ध दिशामे जाता हू, और जबानसे 'मुझे असत्यमेसे सत्यमे । जा' यह प्रार्थना

किया करता हूं, तो इससे क्या मिलनेका ? नागपुरसे कलकत्तेकी ओर जानेवाली गाड़ीमें बैठकर हम 'हे प्रभो, मुझे बंबई ले जा'की कितनी ही प्रार्थना करें, तो उसका क्या फायदा होना है ? असत्यसे सत्यकी ओर ले चलनेकी प्रार्थना करनी हो तो असत्यसे सत्यकी ओर जानेका प्रयत्न भी करना चाहिए। प्रयत्नहीन प्रार्थना प्रार्थना ही नहीं हो सकती। इसलिए ऐसी प्रार्थना करनेमें यह प्रतिज्ञा शामिल है कि मैं अपना रुख असत्यसे सत्यकी ओर करूंगा और अपनी शक्तिभर सत्यकी ओर जानेका भरपूर प्रयत्न करूंगा।

प्रयत्न करना है तो फिर प्रार्थना क्यों ? प्रयत्न करना है इसीलिए तो प्रार्थना चाहिए। मै प्रयत्न करनेवाला हूं। पर फल मेरी मुट्ठीमें थोड़े ही है। फल तो ईश्वरकी इच्छापर अवलंबित है। मैं प्रयत्न करके भी कितना करूंगा ? मेरी शक्ति कितनी अल्प है ? ईश्वरकी सहायताके बिना मैं अकेला क्या कर सकता हू ? मै सत्यकी ओर अपने कदम बढ़ाता रहूं तो भी ईश्वरकी कृपाके बिना मैं मजिलपर नहीं पहुच सकता। मैं रास्ता काटनेका प्रयत्न तो करता हूं, पर अतमे मैं रास्ता काटू गा कि बीचमे मेरे पैर ही कट जानेवाले हैं, यह कौन कह सकता है ? इसलिए अपने ही बल-बूते मैं मजिलपर पहुच जाऊगा, यह घमड फिजूल है। कामका अधिकार मेरा है; पर फल ईश्वरके हाथमे है। इसलिए प्रयत्नके साथ-साथ ईश्वरकी प्रार्थना आवश्यक है। प्राथनाके सयोगसे हमें बल मिलता है। यो कहो न कि अपने पासका संपूर्ण बल काममे लाकर और बलकी ईश्वरसे मांग करना यही प्रार्थनाका मतलब है।

प्रार्थनामे दैववाद और प्रयत्नवादका समन्वय है। दैववादमें पुरुषार्थको अवकाश नही है, इससे वह बावला है। प्रयत्नवादमें निरहंकार वृत्ति नही है, इससे वह घमंडी है। फलतः दोनो ग्रहण नहीं किये जा सकते। किंतु दोनोको छोड़ा भी नहीं जा सकता। कारण, दैववादमें जो नम्रता है वह जरूरी है। प्रयत्नवादमें जो पराक्रम है वह भी आवश्यक है। प्रार्थना इनका मेल साधती है। 'मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः' गीतामें सात्त्विक कर्त्ताका यह

जो लक्षण कहा गया है उसमें प्रार्थनाका रहस्य है। प्रार्थना मानी अहंकार-रहित प्रयत्न। सारांश, 'मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा' इस प्रार्थनाका संपूर्ण अर्थ होगा कि 'मैं असत्यमेंसे सत्यकी ओर जानेका अहंकार छोड़कर उत्साह-पूर्वक सतत प्रयत्न करूंगा।' यह अर्थ ध्यानमें रखकर हमें रोज प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिए कि—

हे प्रभो, तू मुझे असत्यमेंसे सत्यमें ले जा। अंधकारमेंसे प्रकाशमे ले जा। मृत्युमेंसे अमृतमे ले जा।

: १२ :

तुलसीकृत रामायण

तुलसीदासजीकी रामायणका सारे हिंदुस्तानके साहित्यिक इतिहासमें एक विशेष स्थान है। हिंदी राष्ट्रभाषा है, और यह उसका सर्वोत्तम ग्रंथ है, अतः राष्ट्रीय दृष्टिसे भी उसका स्थान अद्वितीय है ही। साथ-साथ वह हिंदुस्तानके सात-आठ करोड़ लोगोंके लिए वेद-तुल्य प्रमाण मान्य है, नित्य-परिचित और धर्मजागृतिका एकमात्र आधार है; इस प्रकार धार्मिक दृष्टिसे भी वह बेजोड़ कही जा सकती है। और राम-भक्तिका प्रचार करनेमें 'शिष्यात् इच्छेत् पराजयम्' इस न्यायसे वह अपने गुरु वाल्मीकि-रामायणको भी पराजयका आनंद देनेवाली है, इसलिए भक्तिमार्गीय दृष्टिसे भी यह ग्रंथ अपना सानी नही रखता। तीनो दृष्टिया एकत्र करके विचार करनेपर अन्वयालकारका उदाहरण हो जाता है कि राम-रावण युद्ध जिसतरह राम-रावणके युद्ध-जैसा था उसी तरह तुलसीकृत रामायण तुलसीकृत रामायण-जैसी ही है।

एक तो रामायणका अर्थ ही है मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रका चरित्र, तिसपर तुलसीदासने उसे विशेष मर्यादासे लिखा है। इसीलिए यह ग्रंथ सुकुमार बालकोंके हाथ में देनेलायक निर्दोष तथा पवित्र हुआ है। इसमें सब रसोंका वर्णन नैतिक मर्यादाका ध्यान रखकर किया गया है। स्वयं भक्तिपर

भी नीतिकी मयादा लगा दी है। इसीलिए सूरदासकी जैसी उद्दाम भक्ति इसमें नही मिलेगी। तुलसीकी भक्ति सयमित है। इस सयमित भक्ति और उद्दाम भक्तिका अतर मूल राम भक्ति और कृष्ण भक्तिका अतर है। साथ ही, तुलसीदासजीका अपना भी कुछ है ही।

तुलसीकृत रामायणका वाल्मीक रामायणकी अपेक्षा अध्यात्म-रामायण-स अधिक सबध है। अधिकाश वर्णनापर, खासकर भक्तिके उद्गारोपर, भागवतकी छाप पड़ी हुई है, गीताकी छाप तो है ही। महाराष्ट्रके भागवत-धर्माय सतोके ग्रथोसे जिनका परिचय है उन्हें तुलसीकृत रामायण कोई नई चीज नही मालूम होगी। वही नीति, वही निर्मल भक्ति, वही सयम। कृष्ण सखा सुदामाको जिस तरह अपने गावमें वापस आनेपर मालूम हुआ कि कही मै फिरसे द्वारकापुरीमें लौटकर तो नही आ गया, उसी तरह तुलसीदास जीकी रामायण पढते समय महाराष्ट्रीय सत समाजके वचनोसे परिचित पाठकों-को 'हम कहीं अपनी पूर्व परिचित सत वाणी तो नहा पढ रहे हैं', ऐसी शका हो सकती है उसमें भी एकनाथजी महाराजकी याद विशेष रूपसे आती है। एकनाथके भागवत और तुलसीदासजीकी रामायण इन दोनामे विशेष विचार-साम्य है। एकनाथने भी रामायण लिखी है, पर उनकी आत्मा भागवतमें उतरी है। एकनाथके भागवतने ही रानाडेको पागल बना दिया। एकनाथ कृष्णभक्त थे तो तुलसीदास रामभक्त। एकनाथने कृष्णभक्तिकी मस्तीको पचा लिया, यह उनकी विशेषता है। ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ ये सभी कृष्णभक्त है और ऐसा होते हुए भी अत्यत मयादाशील। इस कारण इस विषयमें उन्हे तुलसीदासजीसे दो नबर अधिक दे देना अनुचित न होगा।

तुलसीदासजीकी मुख्य करामात तो उनके अयोध्याकाडमें है। उसी काड-मे उन्होने अधिक परिश्रम भी किया है। अयोध्याकांडमें भरतकी भूमिका अद्भुत चित्रित हुई है। भरत तलसीदासकी ध्यानमूर्त्ति थे। इस ध्यानमूर्त्तिको चुननेमे उनका औचित्य है। लक्ष्मण और भरत दोनों ही रामके अनन्य-भक्त थे लेकिन एकको रामकी सगतिका लाभ हुआ और दूसरेको वियोगका। पर

वियोग ही भाग्यरूप हो उठा। इसलिए कि वियोगमें ही भरतने संगतिका अनुभव पाया। हमारे नसीबमें परमात्माके वियोगमे रहकर ही काम करना लिखा है। लक्ष्मणके जैसा संगतिका भाग्य हमारा कहां! इसलिए वियोगको भाग्यरूपमें किस तरह बदल सकते हैं इसे समझनेमे भरतका आदर्श ही हमारे लिए उपयोगी है।

शारीरिक संगतिकी अपेक्षा मानसिक संगतिका महत्त्व अधिक है। शरीरसे समीप रहकर भी मनुष्य मनसे दूर रह सकता है। दिन-रात नदीका पानी ओढे सोया हुआ पत्थर गीलेपनमे बिलकुल अलिप्त रह सकता है। उलटे शारीरिक वियोगमे ही मानसिक संयोग हो सकता है, उसमे संयमकी परीक्षा है। भक्तिकी तीव्रता वियोगसे बढ़ती ही है। आनंदकी दृष्टिसे देखे तो सक्षात् स्वराज्यकी अपेक्षा स्वराज्य-प्राप्तिके प्रयत्नका आनद कुछ और ही है। सिर्फ अनुभव करनेकी रसिकता हममे होनी चाहिए। भक्तोमे यह रसिकता होती है। इसीलिए भक्त मुक्ति नही मांगते, वे भक्तिमे ही खुश रहते हैं। भक्तिका अर्थ बाहरका वियोग स्वीकार कर अंदरसे एक हो जाना है। यह कोई ऐसा-वैसा भाग्य नहीं, परमभाग्य है—मुक्तिसे भी श्रेष्ठ भाग्य है। भरतका यह भाग्य था। लक्ष्मणका भाग्य भी बड़ा था। पर एक तो हमारी किस्मतमें वह नहीं और फिर कुछ भी कहिये, वह है भी कुछ घटिया ही। इसका कारण अंगूर खट्टे हैं, सिर्फ यही नही है, किंतु उपवास मीठा है, यह भी है। भरतके भाग्यमे उपवासकी मिठास है।

लोकमान्य तिलकने 'गीतारहस्य' मे संन्यासीको लक्ष्यकर यह कटाक्ष किया है कि 'संन्यासीको भी मोक्षका लोभ तो होता ही है।' पर इस तानेको व्यर्थ कर देनेकी युक्ति भी हमारे साधु-संतोने ढूंढ़ निकाली है। उन्होने लोभको ही संन्यास दे दिया। खुद तुलसीदासजी भक्तिकी नमक-रोटीसे खुश हैं, मुक्तिकी ज्योनारके प्रति उन्होने अरुचि दिखाई है। ज्ञानेश्वरने तो "**भोग-मोक्ष निवलाण। पायातलीं**" (भोग और मोक्ष पैर तले पडे हुए उतारा जैसे हैं), "**मोक्षाची सोडीबांधी करी**" (मोक्षकी पोटलीको बांधती छोड़ती है, अर्थात् मोक्ष जिसके हाथकी चीज है), "**चहूं पुरुषार्थां शिरीं। भक्ति जैसी**"

(चारों पुरुषार्थोंसे श्रेष्ठ भक्ति जैसी) आदि वचनोंमें मुक्तिको भक्तिकी टहलुई बनाया है। और तुकारामसे तो **"नको ब्रह्मज्ञान आत्मस्थिति भाव"** (मुझे न ब्रह्मज्ञान चाहिए और न आत्मसाक्षात्कार) कहकर मुक्तिसे इस्तीफा ही दे दिया है। **"मुक्तीवर भक्ति"** (मुक्तिसे भक्ति बढ़कर है) इस भावको एकनाथने अपनी रचनाओंमें दस पांच बार प्रकट किया है। इधर गुजरातमें नरसिंह मेहताने भी **"हरिना जन तो मुक्ति न मागे"** (हरिका जन मुक्ति नहीं मांगता) ही गाया है। इस प्रकार अततः सभी भागवत धर्मी वैष्णवोंकी परंपरा मुक्तिके लोभसे सोलहों आने मुक्त है। इस परंपराका उद्गम भक्त-शिरोमणि प्रह्लादसे हुआ है। **"नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षुरेकः"**—इन दीन जनोंको छोड़कर मुझे अकेले मुक्त होनेकी इच्छा नहीं है, यह खरा जवाब उन्होंने नृसिंह भगवान्‌को दिया। इस कलियुगमें श्रौतस्मार्त्त-सन्यास-मार्गकी स्थापना करनेवाले शंकराचार्यने भी **"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति य"** गीताके इस श्लोकका भाष्य करते हुए **"सङ्गं त्यक्त्वा"** का अर्थ अपने पल्लेसे डालकर **"मोक्षेऽपिफले सङ्गं त्यक्त्वा"**—"मोक्षकी भी आसक्तिका त्याग कर", ये शब्द किया है।

तुलसीदासजीके भरत इस भक्ति भाग्यकी मूर्त्ति हैं। उनका मांगना तो देखिए—

> धरम न अरथ न काम-रुचि
> गति न चहउं निरबान।
> जनम-जनम रति राम-पद
> यह बरदान न आन।।

यों तिलकजीके तानेको संतोंने एकदम निकम्मा कर दिया।

भरतमें वियोग भक्तिका उत्कर्ष दिखाई देता है, इसीसे तुलसीदासजीके वह आदर्श हुए। भरतने सेवा-धर्मका खूब निबाहा। नैतिक मर्यादाका संपूर्ण पालन किया, भगवान्‌का कभी विस्मरण नहीं होने दिया। आज्ञा समझकर प्रजाका पालन किया। पर उसका श्रेय रामके चरणोंमें अर्पण कर स्वयं निर्लिप्त रहे। नगरमें रहकर वनवासका अनुभव किया। वैराग्य-युक्त

चित्तसे यमनियमादि विषम व्रतोका पालन कर आत्माको देवसे दूर रखनेवाले देहके पर्देको झीना कर दिया। तुलसीदास कहते है कि ऐसे भरत न जन्मे होते तो मुझ-जैसे पतितको राम-सम्मुख कौन करता—

सिय-राम-प्रेम-पियूष-पूरन होत जनम न भरत को।
मुनि-मन-अगम-जम-नियम-सम-दम बिषम-ब्रत आचरत को!
दुख-दाह-दारिद-दम्भ-दूषन सुजस-मिस अपहरत को!
कलिकाल तुलसी से सठहिं हठि राम-सनमुख करत को!!

रामायणमें रामसखा भरत, महाभारतमे शकुन्तलाका पराक्रमी भरत और भागवतमे जीवन्मुक्त जडभरत ये तीन भरत प्राचीन भारतमे विख्यात हैं। हिंदुस्तानको 'भारत' वर्प सज्ञा शकुन्तलाके वीर भरतसे मिली, ऐसा इतिहासज्ञोका मत है, एकनाथने ज्ञानी जडभरतसे यह मिली, ऐसा माना है। संभव है, तुलसीदासजीको लगता हो कि यह राम-भक्त भरतसे मिली है। पर चाहे जो हो, आजके वियोगी भारतके लिए भरतकी वियोग-भक्तिका आदर्श सब प्रकारसे अनुकरणीय है। तुलसीदासजीने वह आदर्श अपने पवित्र अनुभवसे उज्ज्वल बनाकर हमारे सामने रखा है। तदनुसार आचरण करना हमारा काम है।

: १३ :

कौटुंबिक पाठशाला

विचारोका प्रत्यक्ष जीवनसे नाता टूट जानेसे विचार निर्जीव हो जाते हैं और जीवन विचारशून्य बन जाता है। मनुष्य घरमे जीता है और मदरसेमे विचार सीखता है, इसलिए जीवन और विचारका मेल नहीं बैठता। उपाय इसका यह है कि एक ओरसे घरमे मदरसेका प्रवेश होना चाहिए और दूसरी ओरसे मदरसेमें घर घुसना चाहिए। समाज-शास्त्रको चाहिए कि शालीन कुटुंब निर्माण करे और शिक्षण-शास्त्रको चाहिए कि कौटुंबिक पाठशाला स्थापित

करे। इस लेखमें शालीन कुटुंबके विषयमें हमें नहीं विचारना है, कौटुंबिक पाठशालाके संबंधमें ही थोड़ा दिग्दर्शन कराना है। छात्रालय अथवा शिक्षकोंके घरको शिक्षाकी बुनियाद मानकर उसपर शिक्षणकी इमारत रचनेवाली शाला ही कौटुंबिक शाला है। ऐसी कौटुंबिक शाला के जीवनक्रमके संबंध में—पाठयक्रमको अलग रखकर—कुछ सूचनाएं इस लेखमे करनी हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) ईश्वर-निष्ठा संसारमें सार वस्तु है। इसलिए नित्यके कार्यक्रममें दोनों वेला सामुदायिक उपासना या प्रार्थना होनी चाहिए। प्रार्थनाका स्वरूप संत वचनोंकी सहायतासे ईश्वर-स्मरण होना चाहिए। उपासनामें एक भाग नित्यके किसी निश्चित पाठको देना चाहिए। 'सर्वेषामविरोधेन' यह नीति हो। एक प्रार्थना रातको सोनेके पहले होनी चाहिए और दूसरी सुबह सोकर उठनेपर।

(२) आहार-शुद्धिका चित्त-शुद्धिसे निकट संबंध है इसलिए आहार सात्त्विक रखना चाहिए। गरम मसाला, मिर्च, तले हुए पदार्थ, चीनी और दूसरे निषिद्ध पदार्थोंका त्याग करना चाहिए। दूध और दूधसे बने पदार्थोंका मर्यादित उपयोग करना चाहिए।

(३) ब्राह्मणसे या दूसरे किसी रसोइयेसे रसोई नहीं बनवानी चाहिए। रसोईकी शिक्षा शिक्षाका एक अंग है। सार्वजनिक काम करनेवालोंके लिए रसोईका ज्ञान जरूरी है। सिपाही, प्रवासी, ब्रह्मचारी सबको वह आनी चाहिए। स्वावलंबनका वह एक अंग है।

(४) कौटुंबिक पाठशालाको अपने पायखानेका काम भी अपने हाथमे लेना चाहिए। अस्पृश्यतानिवारणका अर्थ किसीसे छूतछात न मानना ही नहीं, किसी भी समाजोपयोगी कामसे नफरत न करना भी है। पायखाना साफ करना अंत्यजका काम है, यह भावना चली जानी चाहिए। इसके अलावा स्वच्छताकी सच्ची तालीम भी इसमें है। इसमें सार्वजनिक स्वच्छता रखनेके ढंगका अभ्यास है।

(५) अस्पृश्यों सहित सबको मदरसेमे स्थान मिलना चाहिए, यह तो है

ही, पर ' कौटु बिक' पाठशालामे पंक्ति-भेद रखना भी संभव नहीं। आहार-शुद्धिका नियम रहना काफी है।

(६) स्नानादि प्रातःकर्म सवेरे ही कर डालनेका नियम होना चाहिए। स्वास्थ्य भेदसे अपवाद रखा जा सकता है। स्नान ठंडे पानीसे करना चाहिए।

(७) प्रातःकर्मोंकी तरह सोनेके पहलेके 'सायंकर्म' भी जरूर होने चाहिएं। सोनेके पहले देह-शुद्धि आवश्यक है। इस सायंकर्मका गाढ़ निद्रा और ब्रह्मचर्यसे संबध है। खुली हवामे अलग-अलग सोनेका नियम होना चाहिए।

(८) किताबी शिक्षाके बजाय उद्योगपर ज्यादा जोर देना चाहिए। कम-से-कम तीन घंटे तो उद्योगमे देने ही चाहिएं। इसके बिना अध्ययन तेजस्वी नहीं होनेका। 'कर्मातिशेषेण' अर्थात् काम करके बचे हुए समयमें वेदाध्ययन करना श्रुतिका विधान है।

(६) शरीरको तीन घंटे उद्योगमे लगाने और गृहकृत्य और स्वकृत्य स्वतः करनेका नियम रखनेके बाद दोनो समय व्यायाम करनेकी जरूरत नहीं है। फिर भी एक बेला अपनी-अपनी जरूरतके मुताबिक खुली हवामें खेलना, घूमना या कोई विशेष व्यायाम करना उचित है।

(१०) कातने को राष्ट्रीय धर्मकी प्रार्थनाकी भांति नित्यकर्ममे गिनना चाहिए। उसके लिए उद्योगके समयके अलावा कम-से-कम आधा घंटा वक्त देना चाहिए। इस आधे घंटेमे तकलीका उपयोग करनेसे भी काम चल जायगा। कातनेका नित्यकर्म यात्रामे या कहीं भी छोड़े बिना जारी रखना हो तो तकली ही उपयुक्त साधन है। इसलिए तकलीपर कातना तो आना ही चाहिए।

(११) कपड़ेमे खादी ही बरतनी चाहिए। दूसरी चीजें भी जहांतक सभव हो स्वदेशी ही लेनी चाहिएं।

(१२) सेवाके सिवा दूसरे किसी भी कामके लिए रातको जागना नहीं चाहिए। बीमार आदमीकी सेवा इसमें अपवाद है। पर मौजके लिए या

ज्ञान प्राप्तिके लिए भी रातका जागरण निषिद्ध है। नीदके लिए ढाई पहर रखने चाहिए।

(१३) रातमें भोजन नही रखना चाहिए। आरोग्य, व्यवस्था और अहिंसा तीनो दृष्टियोसे इस नियमकी आवश्यकता है।

(१४) प्रचलित विषयोमें सपूर्ण जागृति रखकर वातावरणको निश्चल रखना चाहिए।

प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर कौटुबिक शालाके जीवनक्रमके सबधमें ये चौदह सूचनाए की गई हैं। इनमे किताबी शिक्षा और औद्योगिक शिक्षाके पाठ्यक्रमके बारेमे ब्यौरा नही दिया गया है। उसपर लिखना हो तो अलग लिखना पडेगा। राष्ट्रीय शिक्षाके विषयमे जिन्हे 'रस' है वे इन सूचनाओपर विचार करे और शका, सूचना वा आक्षेप जो सूझे, सूचित करे।

: १४

जीवन और शिक्षण

आजकी विचित्र शिक्षण पद्धतिके कारण जीवनके दो टुकडे हो जाते हैं। आयुके पहले पद्रह बीस बरसोम आदमी जीनेके झझटमे न पड़कर सिर्फ शिक्षाको प्राप्त कर और बादको शिक्षणको बस्तेमे लपेट रखकर मरने तक जिये।

यह रीति प्रकृतिकी योजनाके विरुद्ध है। हाथभर लबाईका बालक साढे तीन हाथका कैसे हो जाता है, यह उसके अथवा औरोके ध्यानमें भी नही आता। शरीरकी वृद्धि रोज होती रहती है। यह वृद्धि सावकाश, क्रम क्रमसे, थोड़ी थोड़ी होती है। इसलिए उनके होनेका भानतक नहीं होता। यह नही होता कि आज रातको सोये तब दो फुट ऊचाई थी और सवेरे उठकर देखा तो ढाई फुट हो गई। आजकी शिक्षण पद्धतिका तो यह ढग है

कि अमुक वर्षके बिलकुल आखिरी दिनतक मनुष्य जीवनके विषयमे पूर्णरूपसे गैर जिम्मेदार रहे तो भी कोई हर्ज नही, यही नही, उसे गैरजिम्मेदार रहना चाहिए और आगामी वर्षका पहला दिन निकले कि सारी जिम्मेदारी उठा लेनेको तैयार हो जाना चाहिए। संपूर्ण गैरजिम्मेदारीसे संपूर्ण जिम्मेदारीमे कूदना तो एक हनुमान-कूद ही हुई। ऐसी हनुमान-कूदकी कोशिशमे हाथ पैर टूट जायं तो क्या अचरज।

भगवान्ने अर्जुनसे कुरुक्षेत्रमे भगवद्गीता कही। पहले भगवद्गीताके 'क्लास' लेकर फिर अर्जुनको कुरुक्षेत्रमे नहीं ढकेला। तभी उसे वह गीता पची। हम जिसे जीवनकी तैयारीका ज्ञान कहते हैं उसे जीवनसे बिल्कुल अलिप्त रखना चाहते हैं, इसलिए उक्त ज्ञानसे मौतकी ही तैयारी होती है।

बीस बरसका उत्साही युवक अध्ययनमे मग्न है। तरह-तरहके ऊंचे विचारोंके महल बना रहा है। "मैं शिवाजी महाराजकी तरह मातृभूमिकी सेवा करूंगा।" मै वाल्मीकि-सा कवि बनूंगा। मैं न्यूटनकी तरह खोज करूंगा।" एक, दो, चार, जाने क्या-क्या कल्पना करता है। ऐसी कल्पना करनेका भाग्य भी थोड़ोको ही मिलता है। पर जिनको मिलता है उनकी ही बात लेते है। इन कल्पनाओंका आगे क्या नतीजा निकलता है? जब नोन-तेल-लकड़ीके फेरमे पड़ा, जब पेटका प्रश्न सामने आया, तो बेचारा दीन बन जाता है। जीवनकी जिम्मेदारी क्या चीज है, आजतक इसकी बिल्कुल ही कल्पना नहीं थी और अब तो पहाड़ सामने खड़ा हो गया। फिर क्या करता है? फिर पेटके लिए बन-बन फिरनेवाले शिवाजी, करुण-गीत गानेवाले वाल्मीकि, और कभी नौकरीकी तो कभी औरतकी, कभी लड़कीके लिए वरकी और अंतमे श्मशानकी शोध करनेवाले न्यूटन—इस प्रकारकी भूमिकाएं लेकर अपनी कल्पनाओंका समाधान करता है। यह हनुमान-कूदका फल है।

मैट्रिकके एक विद्यार्थीसे पूछा—"क्योजी, तुम आगे क्या करोगे?"

"आगे क्या? आगे कालेजमे जाऊंगा।"

"ठीक है। कालेजमें तो जाओगे। लेकिन उसके बाद ? यह सवाल तो बना ही रहता है।"

"सवाल तो बना रहता है। पर अभीसे सब विचार क्यों किया जाय ? आगे देखा जायगा।"

फिर तीन साल बाद उसी विद्यार्थीसे वही सवाल पूछा।

"अभीतक कोई विचार नहीं हुआ।"

"विचार हुआ नहीं यानी ? लेकिन विचार किया था क्या ?"

"नहीं साहब, विचार किया ही नहीं। क्या विचार करें ? कुछ सूझता नहीं। पर अभी डेढ बरस बाकी है। आगे देखा जायगा।"

'आगे देखा जायगा' ये वही शब्द है जो तीन वर्ष पहले कहे गये थे। पर पहलेकी आवाजमे बेफिक्री थी। आजकी आवाजमे थोड़ी चिंताकी झलक थी।

फिर डेढ वर्ष बाद उसी प्रश्नकर्त्ताने उसी विद्यार्थीसे—अथवा कहो अब 'गृहस्थ'से वही प्रश्न पूछा। इस बार चेहरा चिंताक्रांत था। आवाजकी बेफिक्री बिल्कुल गायब थी। 'तत किं ? तत किंस्तत किम् ?' यह शकराचार्यजीका पूछा हुआ सनातन सवाल अब दिमागमे कसकर चक्कर लगाने लगा था। पर पास जवाब था नहीं।

• आजकी मौत कलपर ढकेलते ढकेलते एक दिन ऐसा आ जाता है कि उस दिन मरना ही पड़ता है। यह प्रसग उनपर नही आता जो 'मरणके पहले ही' मर लेते हैं, जो अपना मरण आखोसे देखते है। जो मरणका 'अगाऊ' अनुभव लेते हैं उनका मरण टलता है और जो मरणके अगाऊ अनुभवसे जी चुराते है, खिंचते है, उनकी छातीपर मरण आ पड़ता है। सामने खभा है, यह बात अधेको उस खभेका छातीमे प्रत्यक्ष धक्का लगनेके बाद मालूम होती है। आखवालेको यह खभा पहले ही दिखाई दता है। अत उसका धक्का उसकी छातीको नहीं लगता।

जिदगीकी जिम्मेदारी कोई निरी मौत नही है और मौत ही कौन ऐसी बड़ी 'मौत' है ? अनुभवके अभावसे यह सारा 'हौआ' है। जीवन और

मरण दोनों आनंदकी वस्तु होनी चाहिएं। कारण, अपने परमप्रिय पिताने—ईश्वरने—वह हमे दिये हैं। ईश्वरने जीवन, दुःखमय नहीं रचा। पर हमें जीवन जीना आना चाहिए। कौन पिता है जो अपने बच्चोंके लिए परेशानीकी जिंदगी चाहेगा? तिसपर ईश्वरके प्रेम और करुणाका कोई पार है? वह अपने लाड़ले बच्चोंके लिए सुखमय जीवनका निर्माण करेगा कि परेशानी और झंझटोंसे भरा जीवन रचेगा? कल्पनाकी क्या आवश्यकता है, प्रत्यक्ष ही देखिये न। हमारे लिए जो चीज जितनी जरूरी है उसके उतनी ही सुलभतासे मिलनेका इंतजाम ईश्वरकी ओरसे है। पानीसे हवा ज्यादा जरूरी है तो ईश्वरने पानीसे हवाको अधिक सुलभ किया है। जहां नाक है, वहां हवा मौजूद है। पानीसे अन्नकी जरूरत कम होनेकी वजहसे पानी प्राप्त करनेकी बनिस्बत अन्न प्राप्त करने मे अधिक परिश्रम करना पड़ता है। 'आत्मा' सबसे अधिक महत्त्वकी वस्तु होनेके कारण वह हरएकको हमेशाके लिए दे डाली गई है। ईश्वरकी ऐसी प्रेम पूर्ण योजना है। इसका खयाल न करके हम निकम्मे जड़ जवाहरात-जमा करने-जितने जड़ बन जायं तो तकलीफ हमे होगी ही। पर यह हमारी जडताका दोष है, ईश्वरका नहीं।

जिंदगीकी जिम्मेदारी कोई डरावनी चीज नहीं है, वह आनंदसे ओतप्रोत है, बशर्ते कि ईश्वरकी रची हुई जीवनकी सरल योजनाको ध्यानमे रखते हुए अयुक्त वासनाओंको दबाकर रखा जाय। पर जैसे वह आनंदसे भरी हुई वस्तु है वैसे ही शिक्षासे भी भरपूर है। यह पक्की बात समझनी चाहिए कि जो जिंदगीकी जिम्मेदारीसे वंचित हुआ वह सारे शिक्षणका फल गंवा बैठा। बहुतोंकी धारणा है कि बचपनसे ही जिंदगीकी जिम्मेदारीका खयाल अगर बच्चोंमें पैदा हो जाय तो जीवन कुम्हला जायगा। पर जिंदगीकी जिम्मेदारीका भान होनेसे अगर जीवन कुम्हलाता हो तो फिर वह जीवन-वस्तु ही रहने लायक नहीं है। पर आज यह धारणा बहुतेरे शिक्षणशास्त्रियोंकी भी है और इसका मुख्य कारण है जीवनके विषयमे दुष्ट कल्पना। जीवन मानी कलह, यह मान लेना। ईसपनीतिके अरसिक माने हुए परंतु वास्तविक मर्मको समझने-वाले मुर्गेसे सीख लेकर ज्वारके दानोंकी अपेक्षा मोतियोंको मान देना छोड़

दिया तो जीवनके अंदरका कलह जाता रहेगा और जीवनमें सहकार दाखिल हो जायगा। बदरके हाथमें मोतियोकी माला (मरकट-भूषण अग) यह कहावत जिन्होने गढ़ी है उन्होने मनुष्यका मनुष्यत्व सिद्ध न करके मनुष्यके पूर्वजोंके संबधमें डार्विनका सिद्धात ही सिद्ध किया है। 'हनुमानके हाथमें मोतियोकी माला'वाली कहावत जिन्होने रची वे अपने मनुष्यत्वके प्रति वफादार रहे।

जीवन अगर भयानक वस्तु हो, कलह हो, तो बच्चोको उसमे दाखिल मत करो और खुद भी मत जियो। पर अगर जीने लायक वस्तु हो तो लड़कोको उसमें जरूर दाखिल करो। बिना उसके उन्हे शिक्षण नही मिलनेका। भगवद्‌गीता जैसे कुरुक्षेत्रमे कही गई वैसे शिक्षा जीवन-क्षेत्रमे देनी चाहिए—दी जा सकती है। 'दी जा सकती है', यह भाषा भी ठीक नही है—वहीं वह मिल सकती है।

अर्जुनके सामने प्रत्यक्ष कर्त्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देनेके लिए भगवद्‌गीता निर्मित हुई। इसीका नाम शिक्षा है। बच्चोको खेतमें काम करने दो। वहा कोई सवाल पैदा हो तो उसका उत्तर देनेके लिए सृष्टि-शास्त्र अथवा पदार्थ-विज्ञानकी या दूसरी जिस चीजकी जरूरत हो उसका ज्ञान दो। यह सच्चा शिक्षण होगा। बच्चोको रसोई बनाने दो। उसमें जहां जरूरत हो रसायनशास्त्र सिखाओ। पर असली बात यह है कि उनको 'जीवन जीने दो'। व्यवहारमे काम करनेवाले आदमीको भी शिक्षण मिलता ही रहता है। वैसे ही छोटे बच्चोको भी मिले। भेद इतना ही होगा कि बच्चोके आसपास जरूरतके अनुसार मार्ग-दर्शन करानेवाले मनुष्य मौजूद हो। ये आदमी भी 'सिखानेवाले' बनकर 'नियुक्त' नहीं होगे। वे भी 'जीवन जीनेवाले' हो, जैसे व्यवहारमें आदमी जीवन जीते हैं। अंतर इतना ही है कि इन 'शिक्षक' कहलानेवालोका जीवन विचारमय होगा, उसमेके विचार मौकेपर बच्चोंको समझाकर बतानेकी योग्यता उनमें होगी। पर 'शिक्षक' नामके किसी स्वतंत्र धंधेकी जरूरत नहीं है, न 'विद्यार्थी' नामके मनुष्य-कोटिसे बाहरके किसी प्राणीकी।

और 'क्या करते हो' पूछनेपर 'पढ़ता हूं' या 'पढ़ाता हूं' ऐसे जवाबकी जरूरत नहीं है। 'खेती करता हूं' अथवा 'बुनता हूं' ऐसा शुद्ध पेशेवर कहिये या व्यावहारिक कहिये, पर जीवनके भ तरसे उत्तर आना चाहिए। इसके लिए उदाहरण विद्यार्थी राम-लक्ष्मण और गुरु विश्वामित्रका लेना चाहिए। विश्वामित्र यज्ञ करते थे। उसकी रक्षा के लिए उन्होंने दशरथसे लडकोंकी याचना की। उसी कामके लिए दशरथने लड़कोंको भेजा। लड़कोंमे भी यह जिम्मेदारीकी भावना थी कि हम यज्ञ-रक्षणके 'काम' के लिए जाते हैं। उसमे उन्हे अपूर्व शिक्षा मिली। पर यह बताना हो कि राम-लक्ष्मणने क्या किया तो कहना होगा कि 'यज्ञ रक्षा की'। 'शिक्षण प्राप्त किया' नहीं कहा जायगा। पर शिक्षण उन्हे मिला, जो मिलना ही था।

शिक्षण कर्त्तव्य कर्मका आनुषंगिक फल है। जो कोई कर्त्तव्य करता है उसे जाने अनजाने वह मिलता ही है। लडकोंको भी वह उसी तरह मिलना चाहिए। औरोंको वह ठोकरें खा-खाकर मिलता है। छोटे लडकोंमे आज उतनी शक्ति नही आई है, इसलिए उनके आसपास ऐसा वातावरण बनाना चाहिए कि वे बहुत ठोकर न खाने पायें, और धीरे-धीरे वे स्वावलंबी बनें ऐसी अपेक्षा और योजना होनी चाहिए। शिक्षण फल है। और 'मा फलेषु कदाचन' यह मर्यादा इस फलके लिए भी लागू है। खास शिक्षणके लिए कोई कर्म करना यह भी सकाम हुआ—और उसमे भी 'इदमद्य मया लब्धम्',—आज मैंने यह पाया, 'इदं प्राप्स्ये'—कल वह पाऊगा, इत्यादि वासनाएं आती ही है। इसलिए इस 'शिक्षण-मोह'से छूटना चाहिए। इस मोहसे जो छूटा उसे सर्वोत्तम शिक्षण मिला समझना चाहिए। मा बीमार है, उसकी सेवा करनेमे मुझे खूब शिक्षण मिलेगा। पर इस शिक्षाके लोभसे मुझे माताकी सेवा नहीं करनी है। वह तो मेरा पवित्र कर्त्तव्य है, इस भावनासे मुझे माताकी सेवा करनी चाहिए। अथवा माता बीमार है और उसकी सेवा करनेसे मेरी दूसरी चीज—जिसे मैं 'शिक्षण' समझता हूं वह—जाती है तो इस शिक्षणके नष्ट होनेके डरसे मुझे माताकी सेवा नही टालनी चाहिए।

प्राथमिक महत्त्वके जीवनोपयोगी परिश्रमको शिक्षणमें स्थान मिलना चाहिए। कुछ शिक्षणशास्त्रियोंका इसपर यह कहना है कि ये परिश्रम शिक्षणकी दृष्टिसे ही दाखिल किये जायं। पेट भरनेकी दृष्टिसे नहीं। आज 'पेट भरनेका' जो विकृत अर्थ प्रचलित है उससे घबराकर यह कहा जाता है और उस हद-तक वह ठीक है। पर मनुष्यको 'पेट' देनेमें ईश्वरका हेतु है। ईमानदारीसे 'पेट भरना' अगर मनुष्य साध ले तो समाजके बहुतेरे दुःख और पातक नष्ट ही हो जाय। इसीसे मनुने '**योऽर्थशुचिः स हि शुचिः**'—जो आर्थिक दृष्टिसे पवित्र है वही पवित्र है, यह यथार्थ उद्गार प्रकट किये हैं। '**सर्वेषामविरोधेन**' कैसे जियें, इस शिक्षणमें सारा शिक्षण समा जाता है। अविरोधवृत्तिसे शरीर-यात्रा करना मनुष्यका प्रथम कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य करनेसे ही उस-की आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसीसे शरीर-यात्राके लिए उपयोगी परिश्रम करनेको ही शास्त्रकारोंने 'यज्ञ' नाम दिया है। '**उदर-भरण नोहे; जाणिजे यज्ञकर्म**'—यह उदर-भरण नहीं है, इससे यज्ञकर्म जान। वामन पंडितका यह वचन प्रसिद्ध है। अत: मैं शरीर-यात्राके लिए परिश्रम करता हूं, यह भावना उचित है। शरीर-यात्रासे मतलब अपने साढ़े तीन हाथके शरीरकी यात्रा न समझकर समाज-शरीरकी यात्रा, यह उदार अर्थ मनमें बैठाना चाहिए। मेरी शरीर-यात्रा मानी समाजकी सेवा और इसीलिए ईश्वरकी पूजा, इतना समीकरण दृढ़ होना चाहिए। और इस ईश्वर सेवामें देह खपाना मेरा कर्त्तव्य है और वह मुझे करना चाहिए, यह भावना हरेक में होनी चाहिए। इसलिए वह छोटे बच्चोंमें भी होनी चाहिए। इसके लिए उनको शक्ति भर उन्हें जीवनमें भाग लेनेका मौका देना चाहिए, और जीवनको मुख्य केंद्र बनाकर उसके आसपास आवश्यकतानुसार सारे शिक्षणकी रचना करनी चाहिए।

इससे जीवनके दो खंड न होंगे। जीवनकी जिम्मेदारी अचानक आ पड़ने-से उत्पन्न होनेवाली अड़चन पैदा न होगी। अनजाने शिक्षा मिलती रहेगी, पर 'शिक्षणका मोह' नहीं चिपकेगा और निष्काम कर्मकी ओर प्रवृत्ति होगी।

: १५ :

केवल शिक्षण

एक देशसेवाभिलाषीसे किसीने पूछा—"कहिए, अपनी समझमें आप क्या काम अच्छा कर सकते है ?"

उसने उत्तर दिया, "मेरा खयाल है, मैं केवल शिक्षणका काम कर सकता हूं और उसीका शौक है।"

"यह तो ठीक है। अक्सर आदमीको जो आता है, मजबूरन उसका उसे शौक होता ही है। पर यह कहिए कि आप दूसरा कोई काम कर सकेंगे या नहीं ?"

"जी नहो। दूसरा कोई काम नहीं करना आयेगा। सिर्फ सिखा सकूंगा। और विश्वास है कि यह काम तो अच्छा कर सकूंगा।"

"हा, हा, अच्छा सिखानेमे क्या शक है, पर अच्छा क्या सिखा सकते हैं ? कातना, धुनना, बुनना अच्छा सिखा सकेंगे ?"

"नही, वह नही सिखा सकता।"

"तब, सिलाई ? रंगाई ? बढ़ईगिरी ?"

"न, यह सब कुछ नही।"

"रसोई बनाना, पीसना वगैरह घरेलू काम सिखा सकेंगे ?"

"नहीं कामके नामसे तो मैंने कुछ किया ही नहीं, मैं केवल शिक्षण-का........"

"भाई जो पूछा जाता है उसीमें 'नही', 'नही' कहते हो और कहे जाते हो 'केवल' शिक्षणका काम कर सकता हू। इसके मानी क्या है ? बागबानी सिखा सकियेगा ?"

देशसेवाभिलाषीने जरा चिढ़कर कहा, "यह क्या पूछ रहे हैं ? मैंने शुरूमें ही तो कह दिया, मुझे दूसरा कोई काम करना नहीं आता। मैं साहित्य पढ़ा सकता हूं।"

प्रश्नकर्त्ताने जरा मजाकसे कहा, "ठीक कहा। अबकी आपकी बात कुछ तो समझमें आई! आप 'रामचरितमानस' जैसी पुस्तक लिखना सिखा सकते हैं?"

अब तो देशसेवाभिलाषी महाशयका पारा गरम हो उठा और मुंहसे कुछ ऊटपटांग निकलनेको ही था कि प्रश्नकर्त्ता बीचमें ही बोल उठा— "शांति, क्षमा, तितिक्षा रखना सिखा सकेंगे?"

अब तो हद हो गई। आगमें जैसे मिट्टीका तेल डाल दिया हो। यह संवाद खूब जोरसे भभकता, लेकिन प्रश्नकर्त्ताने तुरत उसे पानी डालकर बुझा दिया—"मैं आपकी बात समझा। आप लिखना-पढ़ना आदि सिखा सकेंगे और इसका भी जीवनमें थोड़ा-सा उपयोग है, बिल्कुल न हो ऐसा नहीं है। खैर, आप बुनाई सीखनेको तैयार हैं?"

"अब कोई नई चीज सीखनेका हौसला नहीं है और तिसपर बुनाईका काम तो मुझे आनेका ही नहीं, क्योंकि आजतक हाथको ऐसी कोई आदत ही नहीं।"

"माना, इस कारण सीखनेमें कुछ ज्यादा वक्त लगेगा, लेकिन इसमें न आनेकी क्या बात है?"

"मैं तो समझता हूं, नहीं ही आयेगा। पर मान लीजिए, बड़ी मेहनतसे आया भी तो मुझे इसमें बड़ा झंझट मालूम होता है; इसलिए मुझसे यह नहीं होगा, यही समझिए।"

"ठीक, जैसे लिखना सिखानेको तैयार हैं वैसे खुद लिखनेका काम कर सकते हैं?"

"हां, जरूर कर सकता हूं। लेकिन सिर्फ बैठे-बैठे लिखते रहनेका काम भी है झंझटी; फिर भी उसके करनेमें कोई आपत्ति नहीं है।" यह बातचीत यहीं समाप्त हो गई। नतीजा इसका क्या हुआ यह जाननेकी हमें जरूरत नहीं।

शिक्षकोंकी मनोवृत्ति समझनेके लिए यह बातचीत काफी है। शिक्षानी—

किसी तरहकी भी जीवनोपयोगी क्रियाशीलतासे शून्य;
कोई नई कामकी चीज सीखनेमें स्वभावत: असमर्थ हो गया है।
क्रियाशीलतासे सदाके लिए उकताया हुआ;
'सिर्फ शिक्षण' का घमंड रखनेवाला पुस्तकोंमें गड़ा हुआ, आलसी जीव;
'सिर्फ शिक्षण' का मतलब है जीवनसे तोड़कर बिलगाया हुआ मुर्दार;
शिक्षण और शिक्षकके मानी 'मृत-जीवी' मनुष्य।

'मृत-जीवी' को ही कोई-कोई बुद्धि-जीवी कहते हैं। पर यह है वाणीका व्यभिचार। बुद्धि-जीवी कौन है? कोई गौतम बुद्ध, कोई सुकरात, शंकराचार्य अथवा ज्ञानेश्वर बुद्धि-जीवनकी ज्योति जगाकर दिखाते हैं। 'गीता' में बुद्धि-ग्राह्य जीवनका अर्थ अतींद्रिय जीवन बतलाया है। जो इंद्रियोंका गुलाम है, जो देहासक्तिका मारा हुआ है वह बुद्धि-जीवी नहीं है। बुद्धिका पति आत्मा है। उसे छोड़कर जो बुद्धि देहके द्वारकी दासी हो गई वह बुद्धि व्यभिचारिणी-बुद्धि है। ऐसी व्यभिचारिणी बुद्धिका जीवन ही मरण है। और उस जीनेवाला मृत-जीवी। सिर्फ शिक्षणपर जीनेवाले जीव विशेष अर्थमें मृतजीवी हैं। इन सिर्फ शिक्षणपर जीनेवालोंको मनुने 'मृतकाध्यापक' उर्फ 'वेतन-भोगी शिक्षक' नाम देकर श्राद्धके काममें इनका निषेध किया है। ठीक ही है। श्राद्धमें तो मृत-पूर्वजोंकी स्मृतिको जिंदा करना रहता है और जिन्होंने प्रत्यक्ष जीवनको मृत कर दिखाया है, उनका इस काममें क्या उपयोग?

शिक्षकों को पहले आचार्य कहा जाता था। आचार्य अर्थात् आचार्य-वान्। स्वयं आदर्श जीवनका आचरण करते हुए राष्ट्रसे उसका आचरण करा लेनेवाला आचार्य है। ऐसे आचार्योंके पुरुषार्थसे ही राष्ट्रका निर्माण हुआ है। आज हिंदुस्तानकी नई तह बैठानी है। राष्ट्र-निर्माणका काम आज हमारे सामने है। आचारवान् शिक्षकोंके बिना वह संभव नहीं है।

तभी तो राष्ट्रीय शिक्षणका प्रश्न सबसे महत्त्वपूर्ण है। उसकी व्याख्या और व्याप्ति हमें अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। राष्ट्रका सुशिक्षित-वर्ग निरग्नि और निष्क्रिय होता जा रहा है। इसका उपाय राष्ट्रीय शिक्षणकी आग सुलगाना ही है।

पर वह अग्नि होनी चाहिए। अग्निकी दो शक्तियां मानी गई हैं। एक 'स्वाहा' और दूसरी 'स्वधा'। ये दोनों शक्तियां जहां हैं, वहां अग्नि है। 'स्वाहा' के मानी हैं आत्माहुति देनेकी, आत्मत्यागकी शक्ति और 'स्वधा' के मानी हैं आत्म-धारणकी शक्ति। ये दोनो शक्तियां राष्ट्र-शिक्षणमें जाग्रत होनी चाहिए। इन शक्तियोंके होनेपर ही वह राष्ट्रीय शिक्षण कहलायेगा। बाकी सब मृत, निर्जीव है, कोरा शिक्षण है।

ऊपर-ऊपरसे दिखाई देता है कि अबतक हमारे राष्ट्रीय शिक्षकोंने बड़ा आत्मत्याग किया है। पर वह उतना सही नहीं है। फुटकर स्वार्थ-त्याग अथवा गर्भित त्यागके मानी आत्मत्याग नहीं है। उसकी कसौटी भी है। जहां आत्मत्यागकी शक्ति होगी, वहा आत्मधारणकी शक्ति भी होती है। न हुई तो त्याग कोई काहेका करेगा? जो आत्मा अपनेको खड़ा ही नहीं रख सकता वह कूदेगा कैसे? मतलब, आत्मत्यागकी शक्तिमें आत्मधारण पहलेसे शामिल ही है। यह आत्मधारणकी शक्ति—'स्वधा' राष्ट्रीय शिक्षकोंने अभी तक सिद्ध नहीं की है। इसलिए आत्मत्याग करनेका जो आभास हुआ, वह आभास-मात्र ही है।

पहले स्वधा होगी, उसके बाद स्वाहा। राष्ट्रीय शिक्षणको अर्थात् राष्ट्रीय शिक्षकोंको अब स्वधा-सपादनकी तैयारी करनी चाहिए।

शिक्षकोंको 'केवल शिक्षण'की भ्रामक कल्पना छोड़कर स्वतंत्र जीवन-की जिम्मेदारी—जैसी किसानोंपर होती है वैसी—अपने ऊपर लेनी चाहिए और विद्यार्थियोंको भी उसीमें दायित्वपूर्ण भाग देकर उनके चारो ओर शिक्षणकी रचना करनी चाहिए, अथवा अपने-आप होने देनी चाहिए। 'गुरोः कर्मातिशेषेण' इस वाक्यका अर्थ 'गुरुके काम पूरे करके वेदाभ्यास करना' यही ठीक है। नहीं तो गुरुकी व्यक्तिगत सेवा इतना ही अगर 'गुरोः कर्मका' अर्थ लें तो गुरुकी सेवा आखिर कितनी होगी? और उसके लिए कितने लड़कोंको कितना काम करनेको रहेगा। इसलिए 'गुरोः कर्म' करनेके मानी है, गुरुके जीवनमें जिम्मेदारीसे हिस्सा लेना। वैसा दायित्वपूर्ण भाग लेकर उसमें जो शंका वगैरह पैदा हो उन्हें गुरुसे पूछे और गुरुको भी चाहिए कि अपने

जीवनकी जिम्मेदारी निबाहते हुए और उसीका एक अंग समझकर उसका यथाशक्ति उत्तर देता जाय। यह शिक्षणका स्वरूप है। इसीमे थोड़ा स्वतंत्र समय प्रार्थना-स्वरूप वेदाभ्यासके लिए रखना चाहिए। प्रत्येक कर्म ईश्वरकी उपासनाका ही हो पर वैसा करके भी सुबह-शाम थोड़ा समय उपासनाके लिए देना पड़ता है। यही न्याय वेदाभ्यास अथवा शिक्षण पर लागू करना चाहिए। मतलब, जीवनकी जिम्मेदारीके काम ही दिनके मुख्य भागमे करने चाहिएं और उन सभीको शिक्षणका ही काम समझना चाहिए। साथ ही, रोज एक-दो घंटे (Period) 'शिक्षणके निमित्त' भी देना चाहिए।

राष्ट्रीय जीवन कैसा होना चाहिए, इसका आदर्श अपने जीवनमे उतारना राष्ट्रीय शिक्षकका कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य करते रहनेसे उसके जीवनमे अपने-आप उसके आस-पास शिक्षाकी किरणे फैलेंगी और उन किरणोके प्रकाशसे आस-पासके वातावरणका काम अपने-आप हो जायगा। इस प्रकारका शिक्षक स्वतः सिद्ध शिक्षण-केन्द्र है और उसके समीप रहना ही शिक्षा पाना है।

मनुष्यको पवित्र जीवन बितानेकी फिक्र करनी चाहिए। शिक्षणकी खबरदारी रखनेके लिए वह जीवन ही समर्थ है, उसके लिए 'केवल शिक्षण'की हवस रखनेकी जरूरत नहीं।

: १६ :

भिक्षा

मनुष्यकी जीविकाके तीन प्रकार होते है—

(१) भिक्षा (२) पेशा और (३) चोरी।

भिक्षा, अर्थात् समाजकी अधिक-से-अधिक सेवा करके समाजसे सिर्फ शरीर-धारण-भरको कम-से-कम लेना; और वह भी विवश होकर और उपकृत भावनासे।

पेशा, अर्थात् समाजकी विशिष्ट सेवा करके उसका उचित बदला मांग लेना।

चोरी, अर्थात् समाजकी कम-से-कम सेवा करके या सेवा करनेका नाटक करके या बिल्कुल सेवा किये बिना और कभी-कभी तो प्रत्यक्ष नुकसान करके भी समाजसे ज्यादा-से-ज्यादा भोग लेना।

प्रत्यक्ष चोर-लुटेरे, खूनी और इन्हीं-सरीखे वे 'इंतजामकार' पुलिस, सैनिक, हाकिम वगैरह सरकारी साथी-सहायक; इतजामके बाहरके वकील, वैद्य, शिक्षक, धर्मोपदेशक वगैरह उच्चउ-द्योगी और अव्यापारेषु व्यापार करनेवाले—ये सब तीसरे वर्गमें आते हैं।

मातृभूमिपर मशक्कत करनेवाले किसान और जीवनकी प्राथमिक आवश्यकताएं पूरी करनेवाले मजदूर, ये दूसरे वर्गमे जानेके अभिलाषी हैं, जानेवाले नहीं। कारण, उनकी उचित पारिश्रमिक पानेकी इच्छा होते हुए भी तीसरे वर्गकी करतूतके कारण आज उनमेसे बहुतोंको उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता और वे निस्संदेह तीसरे वर्गमे दाखिल हो जाते हैं।

पहले वर्गमें दाखिल हो सकनेवाले बहुत ही थोड़े, सच्ची लगनके साधु पुरुष हैं। बहुत ही थोड़े हैं, पर हैं; और उन्हींके बलपर दुनिया टिकी है। वे थोड़े है पर उनका बल अद्भुत है।

"भिक्षावृत्तिका लोप हो रहा है, उसका पुनरुद्धार होना चाहिए।" जब समर्थ यह कहते है तो उनका उद्देश्य इसी पहले वर्गको बढ़ाना है।

इसीको गीतामें 'यज्ञ-शिष्ट' अमृत खाना कहा है। और गीताका आश्वासन है कि यह अमृत खानेवाला पुरुष मुक्त हो जाता है।

आज हिंदुस्तानमें बावन लाख 'भीख मांगनेवाले' हैं। समर्थके समयमें भी बहुत 'भिक्षुक' थे, फिर भी भिक्षा-वृत्तिका जीर्णोद्धार करनेकी जरूरत समर्थको क्यो जान पड़ी?

इसका जवाब भिक्षाकी कल्पनामें है। बावन लाखकी भिक्षाका जो अर्थ है, वह तो चोरीका ही एक प्रकार है।

भिक्षाका मतलब है अधिक-से-अधिक परिश्रम और कम से-कम लेना। इतना

भी न लिया होता पर शरीरनिर्वाह नहीं होता इसलिए उतने भरके लिए लेना पड़ता है। पर हक मानकर नहीं। समाजका मुझपर यह उपकार है, इस भावनासे। भिक्षामें परावलबन नहीं है, ईश्वरावलंबन है; समाजकी सद्भावना पर श्रद्धा है; यथालाभ संतोष है; कर्त्तव्यपरायणता है, फलनिरपेक्ष वृत्तिका प्रयत्न है।

लोक-सेवकके शरीर-रक्षणको एक सामाजिक कार्य समझना चाहिए। विशिष्ट सामाजिक कामके लिए यदि किसीको कोई निश्चित रकम दी जाय तो उस रकमका विनियोग उचित रीतिसे, हिसाब रखकर, इसी कार्यके लिए वह करता है। मैं लोक-सेवक हू इसलिए मेरा शरीर-धारण-कार्य भी सामाजिक कार्य है, ऐसा समझकर उसके लिए मुझे, आवश्यकतानुसार, समाज देता है। उस रकमका उपयोग मुझे उसी काममे करना चाहिए, उचित रूपसे करना चाहिए, उसका हिसाब रखना चाहिए, और वह हिसाब लोगोंकी जाचके लिए खुला रहना चाहिए। अर्थात् सब तरहसे एक पच जैसी संचालन-व्यवस्था करेगा, वैसे 'निर्मम' भावनासे मुझे अपने शरीरकी संचालन-व्यवस्था करनी चाहिए। यह भिक्षावृत्ति है।

कुछ सेवकोंको कहते सुना जाता है—अपने पैसेको हम चाहे जैसे खर्च करें, सामाजिक पैसेका हिसाब ठीक रक्खेंगे, लोगोंको दिखायेंगे, उनसे आलोचना चाहेंगे, उन्हें होगा तो उत्तर देंगे, नहीं तो क्षमा मागेंगे। पर हमारे अपने पैसेका हिसाब ठीक रखनेको हम बंधे नहीं है, और दिखानेकी तो बात ही नहीं। यदि सचाईसे समाजसेवा करनेवाला कोई आदमी यह कहे तो उसकी सेवा 'पेशा' बन गई। पेशा ईमानदार सही, पर है 'पेशा'। भिक्षावृत्ति नहीं।

भिक्षा कहती है—'तेरा' पैसा कैसा? जैसे खादीके कामके लिए खादी-का ज्ञाता मानकर तुझे पैसा सौंपा गया उसी तरह तेरे शरीरके कामके लिए, तुझे उसका ज्ञाता समझकर, पैसा दिया गया। खादीके लिए दिया हुआ पैसा जब तेरा नहीं है, तब तेरे शरीरके लिए दिया हुआ पैसा तेरा कैसे हुआ? दोनो काम सामाजिक ही हैं।

एक खादी-प्रचारकसे पूछा गया, "तुम्हे कितनेकी जरूरत है ?"

"तीस रुपये महीनेकी।"

"तुम तो अकेले हो, फिर इतनेकी जरूरत क्यो है ?"

"दो-तीन गरीब विद्यार्थियोंको मदद देता हूं।"

"हम यह मान लेते हैं कि गरीब विद्यार्थियोंको इस तरह मदद देना अनुचित नहीं है। पर मान लो कि खादीके कामके लिए तुम्हें पैसे दिये गए तो उसमेसे राष्ट्रीय शिक्षणके काममें लगाओगे क्या ?"

"ऐसा तो नहीं किया जा सकता।"

"तब तुम्हारे शरीरका पोषण, जो एक सामाजिक काम है, उसके लिए तुम्हे दी गई रकममेंसे गरीब विद्यार्थियोंको मदद देनेमे, जो दूसरा सामाजिक काम है, खर्च करनेका क्या मतलब ?"

यह भी भिक्षा-वृत्तिका महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। भिक्षा-वृत्तिवाले मनुष्यको दानका अधिकार नहीं है। दान हो या भोग दोनोका कर्ता 'मैं' ही हूं। और भिक्षामे 'मैं' को ही जगह नहीं है। इसीसे दोनोको नहीं। न भोगमें फंसो, न त्यागमे पड़ो—यह भिक्षावृत्तिका सूत्र है। भिक्षावृत्तिके मानी है 'घर बड़ा करना', बड़ी जिम्मेदारी सिरपर लेना। भिक्षा गैरजिम्मेदारी नही है।

भिक्षा मागनेके मानी हैं 'मांगना छोड़ देना'। बाइबिलमें कहा है, 'मांगो तो मिल जायगा।' उसका मतलब है भगवान्से मागो तो मिलेगा। पर समाजसे ? 'मागो मत, तो मिलेगा।'

'भिक्षा मागना' ये शब्द विसंवादी हैं। कारण, भिक्षाके मानी ही हैं न मांगना। भिक्षा मागना ये शब्द पुनरुक्त है। क्योकि भिक्षा ही स्वतःसिद्ध मागना है। भिक्षा मागनी नहीं पड़ती। कर्त्तव्यकी झोलीमें अधिकार पडे ही हैं।

[१३ : ७ : ४०

: १७ :

गांवोंका काम

असहयोग आदोलनके समयसे गावोकी ओर लोगोका ध्यान खिचा है। गावोंका महत्त्व समझमें आने लगा है। कितने ही सेवक गावोमें काम भी करने लगे हैं, और कुछको उसमें कामयाबी भी हुई है। पर अधिकाशको सफलता नही मिली है।

इसके पहले सुशिक्षितोकी दृष्टि गावोकी ओर गई ही न थी। पहले तो नजर परायोकी ओर थी। इग्लैंडकी जनताको अनुकूल करना चाहिए, सरकार को परिस्थिति समझानी चाहिए, आदि। बादको निगाह अपनोंकी ओर फिरी। पर शहरकी ओर, सुशिक्षितोंकी ओर। 'सुशिक्षितोमे राष्ट्रीय भावना पैदा करनी चाहिए'की बुनियाद पर सारा आदोलन चलता था। असहयोगके जमानेमे गावोकी ओर नजर गई। आगे बढे तो रचनात्मक कार्यक्रमके आदोलनमें गावामे प्रवेश करनेकी, ग्रामवासी जनताकी सेवा करनेकी प्रत्यक्ष प्रेरणा हुई और जो थोड़ा बहुत नतीजा निकला दीखता है वह इस प्रेरणाका ही फल है। इतने वर्षोंके लबे अनुभवके बाद हमारे ध्यानमें आया कि 'तेरा साईं तेरे पास, तू क्या भटके ससारमे?' फिर भी कामकी केवल शुरुआत होनेके कारण बहुतसे स्थानोंमें गावका काम निष्फल हुआ।

यह कोई नई बात नहीं है। शुरू शुरूमें ऐसा होता ही है। इससे निराश हानेकी काई वजह नहीं, और निराश होनेकी स्थिति है भी नहीं। कारण, कुछ स्थानोंमें गावाके प्रयोग सफल भी हुए हैं। इसके सिवा जो प्रयोग असफल प्रतीत होते हैं, वे भी प्रतीत भर होते है। पत्थर तोड़नेमे पहली कुछ चोटें बेकार गई भी जान पडती हैं। पर उनका नतीजा तो होता ही है। इस मिसालमे फोड़ा जानेवाला पत्थर गावकी जनता नहीं बल्कि हमारे सुशिक्षितोंका विमुख हृदय है।

अब कहा हमारे मनमे गावोमे जानेकी बात उदित हुई है, लेकिन हम

गांवोंमें अपने शहरी ठाट-बाटके साथ जाना चाहते हैं, इससे हमारा काम जमता नहीं। गांवोंमें ग्रामीण होकर जाना चाहिए। यही हमारी असफलताका मुख्य कारण है।

गांवमें गया हुआ सुशिक्षित मनुष्य आज भी ग्रामीण तो नहीं ही बन पाया। पर आज वहां वह 'परोपकार'की हविससे जाता है। उसे गांववालोंसे खुद कुछ सीखना है, यह वह भूल जाता है।

उसे लगता है 'ये बेचारे अज्ञानमें लोटते पड़े हैं।' अपना घोर अज्ञान उसे नहीं दिखाई देता, और खुद उसे क्या करना चाहिए इसे बिसारकर वह लोगोंसे काम लेनेके फेरमें पड़ जाता है। इसकी वजहसे वह ग्राम-जीवनसे बिलकुल अलग-सा हो जाता है।

१. अपनी सुशिक्षितपनकी आदतें छोड़कर हमें गांवमें जाना चाहिए।

२. गांववालोंको शिक्षा देनेकी वृत्ति लेकर नहीं जाना चाहिए।

३. खुद काममें लगें।

ये तीन महत्त्वपूर्ण बातें हमें ध्यानमें रखनी चाहिएं।

कई बार ऐसा देखा जाता है कि कोई व्यक्ति किसी गांवमें जा बैठता है और किसी एक कामको, जिसे—गांवकी मददके बिना—वह कर सकता था, सारे गांवभरमें हलचल मचाकर भी नहीं कर पाता। अपने कामका उसे पूरा हिसाब—क्षण-क्षणका—रखना चाहिए। गांवके आदमियोंकी निगाहमें उद्योगी आदमीकी इज्जत होती है। जो सुशिक्षित आदमी गांवमें जाकर किसीको कुछ सिखानेका खयाल छोड़कर रात-दिन काममें मग्न रहेगा और अपने चरित्रकी चौकसी करता रहेगा वह अपने-आप गांवके लिए उपयोगी बन जायगा, और आकाशमें जैसे तारे चंद्रमाके चारों ओर इकट्ठे रहते हैं वैसे ही लोग उसके चारों ओर जमा हो जायगे। हिंदुस्तानकी ग्रामवासी जनता कृतज्ञ है, गुण परखनेकी शक्ति उसमें भरपूर है।

ग्राम-संगठनका काम चरित्रबलके अभावमें संभव नहीं है। और गांवकी जनताके चारित्र्यका बटखरा 'प्राथमिक' सद्गुणोंपर अवलंबित है, और यही असली बटखरा है। प्राथमिक सद्गुणोंसे मतलब है नीतिके मूलभूत सद्गुण।

उदाहरणार्थ, आलस्य न होना, निर्भयता, प्रेम, इत्यादि। दिखाऊ उपार्जित गुण वक्तृत्व, विद्वत्ता वगैरह गावके लिए बहुत उपयोगी नहीं होते। गाँवमें काम करनेवालेमे भक्तिकी लगन होनी चाहिए, भाव होना चाहिए। यह प्राथमिक सद्गुणोंका राजा है।

पर अपने लोगोंकी पवित्र भावनामे अभी हम रमे ही नहीं। यह हमारी निष्फलताका बहुत ही बडा कारण है। गावके लोगोंके वहम, अंधविश्वास हममे न होने चाहिएं। लेकिन उनमे जो कीमती भावनाए हैं वे तो हममें होनी ही चाहिएं। पर वे नहीं होतीं। भजनसे हम भागते है। ईश्वरके नामोच्चारणसे हमारे हृदयमे भावनाकी बाढ आनी चाहिए पर वह नहीं आती। ईश्वर, धर्म, संतोंके बारेमे पूरी कल्पना न रखनेवाले गवारोंमे जो भक्ति-भाव होता है वह उनके सबधमे वास्तविक और यथार्थ ज्ञान रखनेवालोमे उनसे सौ-गुना ज्यादा होना चाहिए। पर हमे ईश्वर अथवा साधु-संतोंके सबधमे बिल्कुल ही ज्ञान नहीं होता। इतना ही नहीं, भान भी नहीं होता; अगर हुआ तो विपरीत ज्ञान भरपूर होता है। इस वजहसे जनताके हृदयसे हमारा हृदय मिल नहीं सकता। अस्पृश्यता सरीखी जो विपरीत भावनाए धर्मके नामसे जनतामे रूढ हो गई हैं उन्हे निकाल डालनेका उसीका प्रयत्न सफल होगा या उसीको प्रयत्न करना चाहिए जिसके हृदयमे जनताके हृदयकी पवित्र भावनाए हिलोरें मारती हैं। जनताकी योग्य भावनाएं, जिसमे नहीं है वह जनताकी अयोग्य भावनाएं कैसे निकाल सकेगा?

लोगोंकी भली भावनाओंमे शामिल न हो सकना जैसे एक दोष है, वैसे ही दूसरे लोगोंके शारीरिक परिचयकी व्यर्थ इच्छा रखना भी दोष है और हमारे कामके लिए घातक है। किसी तरह लोगोंसे खूब जान-पहचान बढ़ानेकी हविससे इधर-उधरके काममे व्यर्थ हाथ डालनेसे काम बिगड़ता है। अति परिचयकी आकाक्षासे हमारा लोगोंके प्रति आदर-भाव कम हो जाता है। लोगोके सूक्ष्म-सूक्ष्म व्यवहारोंपर बेमतलब ध्यान देनेसे हम उनकी सेवा नहीं कर सकते। सेवकको परिचयके बजाय आदरकी ज्यादा जरूरत होती है। लोगोसे परिचय कुछ कम हो और उनके लिए आदर अधिक, तो सेवकके

लिए यह ज्यादा अच्छा है।

लेकिन 'लोगोंसे खूब जान-पहचान होनी चाहिए', यह बात अच्छे-अच्छे सेवावृत्तिवालोंके मुहसे भी सुनी जाती है। पर इसकी जड़में अहंकार छिपा हुआ होता है। सेवकको सेवावृत्तिकी मर्यादा जाननी चाहिए। हमारे शरीरमें कोई ऐसा पारस पत्थर तो नहीं चिपका हुआ है कि किसीका किसी तरह भी हमसे संबंध जुड़ा नहीं कि वह सोना हुआ। सेवाके निमित्तसे लोगोंसे जितना परिचय होता हो, जरूर होना चाहिए। ढूंढ़ ढूंढ़कर परिचयके मौके निकालनेकी सेवक-केलिए जरूरत नहीं है। सच्चे सेवकके पास सेवा अपने-आप हाजिर रहती है, उसे प्रसंग नहीं ढूंढ़ते नहीं फिरना पड़ता। शरीरसे परिचय बढ़ाने और उसीके साथ मनसे जनताके बारेमें अनादर बढ़ाते जानेमें कोई भी फायदा नहीं है।

इसके सिवा हममें एक और दोष है—त्याग की प्रतीति। हमसे थोड़ा-बहुत त्याग होता है। लेकिन त्यागकी प्रतीति त्यागको मार डालती है। त्यागकरके हम किसीपर कोई एहसान नहीं करते। इसके सिवा हमारा त्याग शहरकी निगाहसे 'त्याग' माना भी जाय तो गांव-गांवके हिसाबसे उसकी कोई बड़ी वुकत नहीं। गांवमें तो बहुत ही बड़े त्यागकी अपेक्षा है। स्वयं गांवके लोग —चाहे मजबूरीका ही क्यों न हो—त्यागसे ही रहते है। उस हिसाबसे हमारा त्याग किसी गिनतीमें नहीं है। और फिर उसकी प्रतीति! इससे सेवा ठीक तरह नहीं हो सकती।

इन दोषोंको निकाल देनेका प्रयत्न करनेपर फिर हमारा गांवका काम असफल न होगा।

: १८ :

अस्पृश्यता-निवारणका यज्ञ

अस्पृश्यता-निवारणकी बात उठनेपर कुछ लोग कहते हैं—"भई, ये बातें तो होने ही वाली हैं, समयका प्रवाह ही ऐसा है; इसके लिए इतना आग्रह

रखने की क्या जरूरत ?" समयका प्रवाह अनुकूल है इसलिए कोशिशकी जरूरत नहीं और समय प्रतिकूल हो तो कोशिशसे कुछ होनेका नहीं। मतलब दोनों तरहसे 'कोशिशकी जरूरत नहीं है !' दुनियावी कामोंमें कोशिश और धर्मको भाग्य-भरोसे, खूब ! यह धर्मको धोखा देना नही तो क्या है ? लेकिन धर्म कभी धोखा नहीं खा सकता। धर्मको धोखा देनेके प्रयत्नमे मनुष्य अपने-आपको ही धोखेमें डालता है। धर्मके मामलेमें 'कम-से-कम कितनेमे काम चल जायगा ?' यह कृपणवृत्ति जैसी बुरी है, वैसी ही 'हो ही रहा है', 'होनेवाला है ही', यह भाग्य-वादिता भी बुरी है। 'होनेवाला है ही' इसके मानी क्या ? बिना किये होनेवाला है ? लड़केकी शादी बिना किये नही होती और अस्पृश्यता-निवारण बिना किये हो जायगा ? और फिर समयके प्रवाहके मानी क्या हैं ? समाजके सामुदायिक कर्तृत्वको ही तो 'समयका प्रवाह' कहते हैं ? उनमेंसे मैंने अपना कर्तृत्व निकाल लिया तो उतने हिस्सेमे सामुदायिक कर्तृत्व कमजोर पड़ जायगा, और यदि सबने यही नीति अपना ली तो सारा कर्तृत्व ही उड़ जायगा ! लेकिन "समयका प्रवाह अस्पृश्यता-निवारणके अनुकूल है" इसका अर्थ अगर यह किया जाय कि "हरिजनोंमें जागृति आ गई है, वे हमसे अपने-आप करा लेंगे, फिर हम क्यों करें" तब तो ठीक ही है। वह भी होगा। लेकिन उससे हमें आत्म-शुद्धिका पुण्य नही नसीब होनेका। ज्ञानदेवने जैसा कहा है कि दूध उफन जानेसे होम हुआ नहीं कहलाता। अग्निका आहुति लेना और अग्निको आहुति देना, दोनोंमें भेद है। पहली चीजको आग लगना कहते हैं और दूसरीको यज्ञ करना कहा जाता है। हम आत्मशुद्धिके यज्ञ-कुण्डमें अस्पृश्यताकी आहुति न देंगे तो सामाजिक विप्लवकी आग लगकर अस्पृश्यता जल जानेवाली है, यह निश्चित बात है। परमेश्वर हमें सद्बुद्धि दे।

: १९ :

आजादीकी लड़ाईकी विधायक तैयारी

आजकल हिंदुस्तानमें आजादीकी लड़ाईकी चर्चा चल रही है। कुछ लोग कहते हैं कि इस बारकी लड़ाई आखिरी होगी और द्रष्टाओंकी तो भविष्यवाणी है कि कई कारणोंसे स्वराज्य हमारी दृष्टिकी ही नहीं, हाथकी भी पहुंचमें आ गया है।

अनेक कारणोंकी बदौलत स्वराज्य नजदीक चाहे आ गया हो, पर 'स्वराज्य'के विषयमें मुख्य प्रश्न यह है कि 'स्व'के कारण वह कितना नजदीक आया? स्व-राज्य अनेक कारणोंसे नहीं मिलता, वह तो अकेले 'स्व-कारण'-से ही मिलता है।

उधर यूरोपमें एक महायुद्ध हो रहा है। भेड़ियोंका एक दल कहता है कि विरोधी दलके भेड़ियों द्वारा निगले गये मेमनोंको—संभव हो तो जिंदा, नहीं तो कम-से कम मरी हुई हालतमें—छुड़ानेके लिए हमने यह महायुद्ध स्वीकार किया है। अबतकके आठ महीनोंमें तो भेड़ियेका पेट फाड़कर पुराने मेमनोंको बाहर निकालनेके बजाय नित नये मेमने गलेके नीचे उतारनेका ही सिलसिला जारी है। इधर विरोधी दलके भेड़ियोंके पेटमें पहले हीसे पड़े हुए बड़े-बड़े मोटे-ताजे अधमरे मेमने इस आशासे मनके लड्डू खा रहे हैं कि भेड़ियोंकी इस झपटा-झपटीमें हम अवश्य ही उगल दिये जायंगे।

'ईसप-नीति' की ऐसी एक कहानी है। उसका मतलब निकालनेका भार ईसपको ही सौंपकर हम आगे बढ़ें। यूरोपकी लड़ाई हिंसक साधनोंसे हिंसक उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए लड़ी जा रही है। हमारी लड़ाई अहिंसक, साधनोंसे अहिंसक उद्देश्योंकी पूर्तिके लिए होगी। इन दोनोंमें भारी अंतर होते हुए भी उस हिंसक लड़ाईसे हम कई बातें सीख सकते हैं। लड़ाईके साधन चाहे जैसे क्यों न हों, आजकलका युद्ध सामुदायिक तथा सर्वांगीण सहयोगका एक

जबर्दस्त प्रयत्न होता है। यद्यपि इस प्रयत्नका फल विध्वंसक होता है, और उद्देश्य भी विध्वंसक होता है, तथापि वह प्रयत्न प्रायः सारा-का-सारा विधायक ही होता है। कहते हैं कि जर्मनीने सत्तर लाख फौज तैयार की है। आठ करोड़के राष्ट्रका इतनी बड़ी फौज तैयार करना, इतने बड़े पैमानेपर लड़ाईके हरबा-हथियार, और साधन सामग्री जुटाना, चुने हुए लोगोंको फौजमें भरती करनेके बाद बाकी लोगों द्वारा राष्ट्रीय कारबार चलाना, संपत्तिकी धारा अव्याहत गतिसे प्रवाहित रखनेके लिए औद्योगिक योजनाएं यथासंभव अखंड रूपसे जारी रखना, सब स्कूल-कालिज बंद कर देना, नित्यकी जीवन सामग्रीकी व्यक्तिगत मिल्कियतके अधिकारपर सरकारी कब्जा जमा लेना, जिस प्रकार विश्वरूपदर्शनमें आंख, कान, नाक हाथ, पैर, सिर, मुंह अनंत होते हुए भी हृदय एक ही दिखाया गया है, मानो उसी प्रकार सारे राष्ट्रका हृदय एक करना—यह सब इतना विशाल और इतना सर्वतोमुख विधायक कार्यक्रम है कि उसके संहारप्रवण होते हुए भी हम उससे बहुत-कुछ सीख सकते हैं।

लोग पूछते हैं—"गांधीजी लड़ाईकी तैयारी करनेको कहते हैं, मगर इससे रचनात्मक कार्यक्रमका संबंध क्यों जोड़ देते हैं? हिंदू-मुस्लिम-एकता, अस्पृश्यता-निवारण, खादी और ग्रामोद्योग, मद्य-निषेध, गांवकी सफाई तथा नई तालीम,—यह सारा रचनात्मक कार्यक्रम है। इसमें लड़ाईका तत्त्व कहां है?" यह सवाल कौन लोग पूछते हैं? वही जो यह मानते हैं कि हमें लड़ाई अहिंसक साधनोंसे ही करनी चाहिए। उनकी समझमें यह क्यों नहीं आता कि हिंसक लड़ाईके लिए भी अधिकांशमें विधायक कार्यक्रमकी ही जरूरत होती है। सिपाहियोंके लिए बिस्कुट बनानेसे लगाकर—नहीं, नहीं खेतोंमें आलू बोनेसे लगाकर—पनडुब्बियों द्वारा दुश्मनोंके जहाज डुबाये जानेतक सब-का-सब लड़ाईका एक अखंड कार्यक्रम होता है और उसके अंतिम अंशके सिवा शेष सारा प्रायः रचनात्मक ही होता है। इस विधायक कार्यक्रमपर ही उस अंतिम विनाशक कार्यक्रमकी सफलता अवलंबित होती है। यह शुरूवाला अगर नदारद हो जाय तो वह पीछेवाला भी लापता हो जायगा। यह भेद

जानकर ही दुश्मन सामनेवाले पक्षके विनाशक कार्यक्रमको बेकार कर देनेके उद्देश्यसे उसके इस विधायक कार्यक्रमकी ही टांग तोड़ देनेके फेरमें रहता है। जहां हिंसक लड़ाईका यह हाल है वहां अहिंसक लड़ाई तो विधायक कार्यक्रमके बिना हो ही कैसे सकती है ? 'स्वराज्य'के मानी हैं 'सर्व-राज्य' अर्थात् हरेकका राज्य। इस प्रकारका स्वराज्य बिना सामुदायिक सहयोगके, बिना उत्पादक कार्यक्रमके, बिना सर्वोपयोगी राष्ट्रीय अनुशासनके कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? कांग्रेसके तीस लाख सदस्य हैं। अगर वे राष्ट्रके लिए रोज आधा घंटा भी कातें तो भी कितना बड़ा संगठन होगा ? इसमें मुश्किल क्या है ? वर्धा तहसीलको ही लीजिए। इस तहसीलमें कांग्रेसके छः हजार सदस्य हैं। उनको अगर बीस टुकड़ियोंमें बांट दिया जाय तो हरेक टुकड़ीमें तीन सौ सदस्य होंगे। हरेक टुकड़ी सालभरमें तीन सौ सदस्योंको कातना सिखानेका इरादा करले तो कोई मुश्किल काम नहीं है। सबसे बड़ी बाधा है हमारी अश्रद्धा। "क्या लोग सीखनेके लिए तैयार होंगे ?" "क्या सीखने पर भी कातते रहेंगे ?" "कताईका हिसाब रखेंगे ?" "उसे कांग्रेसके पास भेजेंगे ?"—ऐसी अनेक शंकाएं हम किया करते हैं। इस-के बदले हम काम शुरू कर दें तो एक-एक गांठ अनुभवके बाद खुलने लगेगी।

कम-से-कम वर्धा तहसीलमें इस कार्य-क्रमको अमलमें लानेकी चेष्टा की जा सकती है। कांग्रेस-कमेटियों, चरखासंघ, ग्रामसुधार-केंद्र, आश्रमों तथा अन्य संस्थाओं और गांवके अनुभवी व्यक्तियोंके सहयोगसे यह काम हो सकता है। कामका बाकायदा हिसाब लिखा जाना चाहिए। समय-समयपर कातनेकी प्रगतिकी जानकारी भी लोगोंको दी जानी चाहिए। कातना सिखानेके मानी यह है कि उसके साथ-साथ दूसरी कई बातें भी सिखाई जा सकती हैं और सिखाई जानी चाहिएं। कार्यकर्त्ता इस सूचनापर विचार करें। बहुत मुश्किल नहीं मालूम होगी। लाभदायक होगी। करके देखिए।

[७ : ५ : ४०

: २० :

सर्व-धर्म-समभाव

दो प्रश्न हैं—

(१) सर्वधर्म-समभावका विकास करनेके लिए क्या गांधी-सेवा-संघकी ओरसे कुछ ऐसी पुस्तकोंके प्रकाशनकी आवश्यकता नहीं है जिनमें विभिन्न धर्मोंका तुलनात्मक विचार हो ?

(२) क्या आश्रम तथा अन्य संस्थाओंमें भिन्न-भिन्न धर्मोंके महापुरुषोंके उत्सव मनाकर उन अवसरोंपर उन धर्मोंके विषयमें ज्ञान देना वांछनीय नहीं है ?

१-अगर समभाववी दृष्टिसे कोई ग्रंथ-लेखक पुस्तक तैयार करे और गांधी-सेवा-संघ उचित समझे तो ऐसी पुस्तक प्रकाशित करना ठीक होगा। पर प्रकाशन-विभाग खोलना मुझे पसंद नहीं है। सच बात तो यह है कि संसारमें धर्मोंके बीच जो विषम-भाव है वह उतना बुरा नहीं है। भारतवर्षमें भी काफी विरोध बताया जाता है, लेकिन वह तो अखबारी चीज है। वास्तवमें विरोध है ही नहीं। हमारी कई हजार वर्षोंकी संस्कृतिने हम लोगोंमें समभाव पैदा कर दिया है। देहातमें अब भी वह नजर आता है। आजकलकी नई प्रवृत्तिने विरोध जरूर पैदा कर दिया है, पर वह धार्मिक नहीं है। उसका स्वरूप आर्थिक है। धर्मका तो बहाना ले लिया जाता है। और अखबारोंमें प्रकाशन द्वारा उसे महत्त्व मिल जाता है। अगर वही प्रकाशनका काम हम अपने हाथोंमें ले ले तो उन्हींके शस्त्रका उपयोग करेंगे। यह अच्छी नीति नहीं है। जिस शस्त्रमें प्रति-पक्षी निपुण है उसीका उपयोग करनेसे काम नहीं चलेगा। लेकिन इससे भी भयानक एक चीज और है। वह है सर्वधर्म सम-अभाव। अभाव बढ़ रहा है, नास्तिकता बढ़ रही है। नास्तिकतासे मेरा संकेत तात्त्विक नास्तिकताकी ओर नहीं है। तात्त्विक नास्तिकतासे मैं डरता नहीं। पर लिखनेसे काम नहीं पार पड़ेगा। हम लिखें भी तो कितने लोग

पढ़ेंगे ? गं ा साहित्य पढ़नेवाले तो हजारों हैं। अपने जीवनमें हम जिन चीजोंको उतार सकेंगे उन्हींका प्रचार होगा। पहले यही हुआ करता था। छापेखानेको आये हुए तो सौ वर्ष हुए। इस बीच किसी नये लेखककी लिखी कोई ऐसी पुस्तक निकली है जिसने तुलसीकृत रामायण और तुकारामके अभंगों-की तरह जनतामें प्रवेश किया हो ? प्रकाशन प्रचारका एक साधन तो है, पर धार्मिक प्रचारमें उसकी कीमत कम-से-कम है। जिस चीजको हम अपने श्रद्धेय पुरुषोंके मुंहसे सुनते हैं उसका अधिक असर होता है। प्रकाशनसे विशेष लाभकी संभावना नहीं जान पड़ती।

२—जहां आश्रम है वहां सब धर्मोंके प्रवर्त्तकोंके विषयमें भी अवसरपर चर्चा कर सकते हैं। पर मेरी वृत्ति तो निर्गुण रही है। रामनवमी या कृष्णाष्टमीपर मैंने प्रसंगवशात् भाषण किये हैं, लेकिन उन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया। जहां ऐसे उत्सव हो सकते हैं उनके होते रहनेमें कोई हर्ज नहीं है। [५ : १ : ३६

: २१ :

स्वाध्यायकी आवश्यकता

देहातमें जानेवाले हमारे कार्यकर्त्ताओंमेंसे अधिकांश उत्साही नवयुवक हैं। वे काम शुरू करते हैं उमंग और श्रद्धासे, लेकिन उनका वह उत्साह अंततक नहीं टिकता। देहातमें काम करनेवाले एक भाईका खत मुझे मिला था। लिखा था—"मैं सफाईका काम करता तो हूँ, लेकिन पहले उसका जो असर गांव-वालोंपर होता था वह अब नहीं होता। इतना ही नहीं; बल्कि वे तो मानने लगे हैं कि इसको कहींसे तनख्वाह मिलती है इसीलिए यह सफाईका काम करता है।" अंतमें उस भाईने पूछा है कि क्या अब इस कामको छोड़कर दूसरा काम हाथमें ले लिया जाय ?

यों कार्यकर्त्ताओंको अपने काममें शंकाएं उत्पन्न होने लगती हैं और यह हाल सिर्फ कार्यकर्त्ताओंका नहीं, बड़े-बड़े विद्वानों और नेताओंकी भी यही

हालत है। इसका मुख्य कारण मुझे एक ही मालूम होता है। वह है स्वाध्यायका अभाव। यहांपर 'स्वाध्याय' शब्दका जिस अर्थमें मैं उपयोग करता हूं उसे बता देना आवश्यक है। स्वाध्यायका अर्थ मैं यह नहीं करता कि एक किताब पढ़कर फेंक दी, फिर दूसरी ली। दूसरी लेनेके बाद पहली भूल भी गये। इसको मैं स्वाध्याय नहीं कहता। 'स्वाध्याय'के मानी हैं एक ऐसे विषयका अभ्यास जो सब विषयों और कार्योंका मूल है, जिसके ऊपर बाकीके सब विषयोंका आधार है लेकिन जो खुद किसी दूसरे पर आश्रित नहीं। उस विषयमें दिनभरमें थोड़े समयके लिए एकाग्र होनेकी आवश्यकता है। अपने-आपको और कातने आदि अपने सब कामोंको उतने समयके लिए बिलकुल भूल जाना चाहिए। अपने स्वार्थके संसारमें जितनी बाधाएं और कठिनाइयां पैदा होती हैं वे सभी इस परमार्थी कार्यमें भी खड़ी हो सकती हैं और यह भी संसार का एक व्यवसाय बन जाता है। अगर कोई समझता हो कि यह परमार्थी काम होनेकी वजह से स्वार्थी संसारको झंझटोंसे मुक्त है तो यह समझ खतरनाक है। इसलिए जैसे कुछ समयके लिए संसारसे अलग होनेकी आवश्यकता होती है वैसे ही इस कामसे भी अलग होनेकी आवश्यकता है; क्योंकि वास्तवमें वह काम केवल भावनाका नहीं है, उसमें बुद्धिकी भी आवश्यकता है। भावना तो देहातियोंमें भी होती है, लेकिन उनमें बुद्धिकी न्यूनता है। उसे प्राप्त करना चाहिए। बुद्धि और भावना एकदम अलग-अलग चीजें हों, सो नहीं है। इस विषयमें मैं एक उदाहरण दिया करता हूं।

सूर्यकी किरणोंमें प्रकाश है और उष्णता भी है। उष्णता और प्रकाशको तार्किक पृथक्करणसे अलग-अलग कर सकते हैं। फिर भी जहां प्रकाश होता है वहां उसके साथ उष्णता भी होती ही है। इसी तरह जहां सच्ची बुद्धि है वहां सच्ची भावना है; और जहां सच्ची भावना है वहां सच्ची बुद्धि है ही। उनका तार्किक पृथक्करण हम कर सकते हैं, लेकिन दरअसल वे एकरूप ही हैं। कोई सोचता हो कि हमें बुद्धिसे कोई

मतलब नहीं है, सेवाकी इच्छा है और इसके लिए भावनाका होना काफी है, तो वह गलत सोचता है। इस बुद्धिकी प्राप्तिके लिए स्वाध्यायकी आवश्यकता है। विद्वानोंको भी ऐसे स्वाध्यायकी जरूरत है। फिर कार्यकर्त्ता तो नम्र है न! उसको तो स्वाध्यायकी विशेष रूपसे जरूरत है। इस विषयमें बहुत-से कार्यकर्त्ता सोचते हैं कि बीच-बीचमे शहरमें जाकर पुस्तकालयमें जाना, मित्रोंसे मिलना आदि बातें ग्राम-सेवाके लिए उपयोगी हैं, इनसे उत्साह बढ़ता है और उस उत्साहको लेकर फिर देहातमें काम करनेमें अनुकूलता होती है। लेकिन वे नहो जानते कि ज्ञान और उत्साहका स्थान शहर नहीं है। शहर ज्ञानियोंका अड्डा नही है।

उपनिषद्में एक कहानी है—एक राजासे किसीने कहा कि एक विद्वान् ब्राह्मण आपके राज्यमे है। उसको खोजनेके लिए राजाने नौकर भेजे। सारा नगर छान डालनेके बाद भी उनको वह विद्वान् नहीं मिला। तब राजाने कहा, 'अरे, ब्राह्मणको जहां खोजना चाहिए वहा जाकर ढूंढो।' तब वे लोग जंगलमें गये और वहां उनको वह ब्राह्मण मिला। यह बात नहीं कि शहरमें कोई तपस्वी मिल ही नहीं सकता। सभव है, कभी-कभी शहरमे भी ऐसा मनुष्य मिल जाय, लेकिन वहाका वातावरण उसके अनुकूल नहीं। आत्माका पोषण-रक्षण आजकल शहरोंमे नहीं होता। देहातमे निसर्गके साथ जो प्रत्यक्ष सबंध रहता है वह उत्साहके लिए अत्यन्त आवश्यक है। शहरमें निसर्गसे भेंट कहां? जगलमे तो नदी, पहाड़, जमीन सब चीजे वहीं सामने दिखाई देती हैं, और जंगलके पास तो देहात ही होते है, शहर नहीं। सिर्फ उत्साह लेनेके लिए ग्राम-सेवकोंको शहरमें आना पड़े, इसके बजाय शहरवाले ही कुछ दिनोंके लिए देहातमे जाकर कार्यकर्त्ताओंसे मिलते रहे तो अधिक अच्छा हो। असलमें उत्साह तो दूसरी ही जगह है। वह जगह है अपनी आत्मा। उसके चिंतनके लिए कम-से-कम रोज एकाध घंटा अलग निकालना चाहिए। तस्वीर खींचनेवाला तस्वीरको देखनेके लिए दूर जाता है, और वहांसे उसको तस्वीरमें जो दोष दिखाई देते हैं उनको पास आकर सुधार लेता है। तस्वीर तो पास रहकर ही बनानी पड़ती है, लेकिन उसके दोष देखनेके लिए अलग हट जाना पड़ता

है। इसी प्रकार सेवा करनेके लिए पास तो आना ही पड़ेगा। लेकिन कार्य-को देखनेके लिए खुदको अलग कर लेनेकी जरूरत भी है।

यही स्वाध्यायका उपयोग है। अपनेको और अपने कार्यको बिल्कुल भूल जाना और तटस्थ होकर देखना चाहिए। फिर उसीमेंसे उत्साह मिलता है, मार्ग-दर्शन होता है, बुद्धिकी शुद्धि होती है।

: २२ :

दरिद्रोंसे तन्मयता

दो प्रश्न हैं—

(१) हममेंसे जो आजतक तो मध्यमवर्गका जीवन बिताते आये हैं परंतु अब दरिद्रवर्गसे एकरूप होना चाहते हैं, वे किस क्रमसे अपने जीवनमें परिवर्तन करें जिससे तीन-चार वर्षमें वे निश्चित रूपमें इन दरिद्रोंसे एकरूप हो जायं?

(२) मध्यम अथवा उच्चवर्गके लोग दरिद्रोंसे अपनी सद्भावना किस तरह प्रकट कर सकते हैं? क्या इस प्रकारका कोई नियम बनाना ठीक होगा कि संघके सदस्य कोई ऐसा उपाय करें जिससे उनके खर्चेमेंसे हर १) मेंसे ६५) रुपये दरिद्रोंके घर सीधे पहुँच जायं?

पहले तो हमे यह समझना है कि हम मध्यमवर्ग और उच्चवर्गके माने जानेवाले 'प्राणी' हैं, अर्थात् हम प्राणवान् बनना चाहते हैं। जिनकी सेवा करना चाहते हैं उनके-से बनना चाहते हैं। पानी कहींका भी क्यो न हो, समुद्रकी ओर ही जाना चाहता है। यद्यपि सब पानी समुद्रतक नहीं पहुच सकता, लेकिन चाहे वह मेरा नहाया हुआ हो, या गंगाजीका, दोनोकी गति समुद्रकी ओर है। दोनो निम्नगतिक—नम्र हैं। एक जगह थोड़ा पानी, उस-की ताकत कम होनेके कारण, भले ही बीचमें रुक जाय, और किसी छोटे

वृक्षको जीवन प्रदान करनेमें उसका उपयोग हो—यह तो हुआ उसका भाग्य- परतु उसकी गति तो समुद्र ही है। समुद्रतक पहुंचनेका भाग्य तो गगाके समान महानदियोंको ही प्राप्त होता है। इसी तरह उच्च और मध्यम श्रेणियां पहाड़ और टीलेके समान हैं। यहा जिसकी हमें सेवा करनी है वह महा-समुद्र है। इस महासमुद्रतक सब न भी पहुच सकें, तो भी कामना तो हम यही करते हैं कि वहांतक पहुचें। अर्थात् जहातक पहुंच पायें उतने होसे सताष न मान लें। हमें जिनका सेवा करना है उसका प्रश्न सामने रखकर अपने जीवनकी दिशा बदलते रहना चाहिए और खुद निम्नगतिक—नम्र बनना चाहिए।

पर इसके कोई स्थूल नियम नहीं बनाये जा सकते। अगर बनाना शक्य हो ता भी वे मेरे पास नहो हैं और न मैं चाहता ही हूं कि ऐसे नियम बनाने-का कोई प्रयत्न किया जाय। चार या पाच वर्षोंमें उच्च और मध्यम श्रेणीके लोगोंको गरोब बना देनेकी कोई विधि नहीं है। हमें गरीबाको सेवा करनी है, यह समझकर जाग्रत रहकर शक्तिभर काम करना चाहिए। कोई नियम नहीं है, इसीलिए बुद्धि और पुरुषार्थकी गु जाइश है। पिछले सोलह वर्षोंसे मेरा यह प्रयत्न जारी है कि मैं गरीबोंसे एकरूप हो जाऊ, लेकिन मैं नहीं समझता कि गरीबोंका जीवन व्यतीत करनेमें सफल हुआ हूं। पर इसका उपाय क्या है? मुझे इसका कोई दु:ख भी नहो है। मेरे लिए तो प्राप्तिके आनदकी अपेक्षा प्रयत्नका आनद बढ़कर है।

शिवकी उपासना करनी हो तो शिव बनो, ऐसा एक शास्त्रीय सूत्र है। इसी तरह गरीबोंकी सेवा करनेके लिए गरीब बनना चाहिए। पर इसमें विवेककी जरूरत है। इसके मानो यह नहा कि हम उनके जीवनकी बुराइयों-को भी अपना लें। वे जैसे दरिद्रनारायण हैं वैसे मूर्ख नारायण भी तो हैं। क्या हम भी उनकी सेवाके लिए मूर्ख बनें? शिव बननेका मतलब यह नहीं है। जिनका धन गया उनकी बुद्धि तो उससे भी पहले चली गई। उनके-जैसा बनकर हमें अपनी बुद्धि नहीं खोनी चाहिए।

देहातमें किसान धूपमें काम करते हैं। लोग कहते हैं, "बेचारे किसानोंको

दिनभर धूपमें काम करना पड़ता है।" अरे धूपमें और खुले आकाशके नीचे काम करना, यही तो उनका वैभव बचा रह गया है! क्या उसे भी आप छीन लेना चाहते हैं? धूपमें तो विटामिन काफी है। अगर हो सके तो हम भी उन्हींकी भांति करना शुरू कर दे। पर वे जो रातमें मकानोंको संदूक बनाकर उनमें अपने-आपको बंद करके सोते हैं उसकी नकल हमें नहीं करनी चाहिए। हम काफी कपड़े रक्खे। उनसे भी हम कहे कि रातमें आकाशके नीचे सोओ और नक्षत्रोंका वैभव लूटो। हम उनके प्रकाशका अनुकरण करे, उनके अंधकारका नही। उनके पास अगर पूरे कपडे नहीं हैं तो हम उन्हें इतना समर्थ क्यों न बना दे कि वे भी अपने लिए काफी कपडे बना लें? उन्हें महीनो तरकारी नही मिलती, दूध नही मिलता। क्या हम भी साग-भाजी और दूध छोड़ दे? यह विचार ठीक नही है। एक आदमी अगर डूब रहा है और अगर उसे देखकर हमे दुःख होता है तो क्या हम भी उसके पीछे डूब जायं? इसमें दया है, सहानुभूति भी है। लेकिन वह दया और सहानुभूति किस कामकी जिसमें तारक-बुद्धिका अभाव हो? सच्ची कृपामें तारक-शक्ति होनी चाहिए। तुलसीदासजीने उसे 'कृपालु अलायक' कहा है।

हमे अपने जीवनकी खराबियोंको निकालकर उसे पूर्ण बनाना चाहिए। उसी प्रकार उनकी बुराइयोको दूर कर उनका जीवन भी पूर्ण बनानेमें उनकी सहायता करनी चाहिए। पूर्ण जीवन वह है जिसमे रस या उत्साह है। भोग या विलासिताको उसमे स्थान नही। हम दरिद्रो-जैसे बने या पूर्ण जीवनकी ओर बढ़ें? लोग कहते है, ऐसा करनेसे हमारा जीवन त्यागमय नही दिखाई देगा। पर हमे इस बातका विचार नही करना है कि वह कैसा दिखाई देगा। हम यह भी न सोचे कि इसका परिणाम क्या होगा। परिणाम-परायणताको छोड़ देना चाहिए। हमारी जीवनपद्धति उनसे भिन्न है। हमे दूध मिलता है, उन्हें नहीं मिलता; इस बातका हमें दुःख हो तो वह उचित ही है। यह दुःख-बीज तो हमारी हृदय-भूमिमें रहना ही चाहिए। वह हमारी उन्नति करेगा। मुझे तो इसका कोई उपाय मिल भी जाय तो दुःख होगा। अगर किसी चमत्कारसे कल ही हमें स्वराज्य मिल जाय तो उसमें कोई आनंद

नहीं। हमारे पुरुषार्थ और रचनात्मक शक्तिसे तारक-बुद्धिका प्रचार होकर सारी देहाती जनता एक इंच भी आगे बढ़ सके तो हम स्वराज्यके नजदीक पहुंचेंगे। जैसे नदियां समुद्रकी ओर बहती हैं उसी प्रकार हमारी वृत्ति और शक्ति गरीबोंकी ओर बहती रहे, इसीमें कल्याण है।

: २३ :

तरणोपाय ?

वैधानिक आंदोलन करना, जनताकी शिकायतें सरकारके सामने रखना और मीठे-मीठे ढंगसे उन शिकायतोंका इलाज करा लेना और इतना करके संतोष मान लेना—शुरूमें यही कांग्रेसका कार्यक्रम था। लेकिन न तो शिकायतें दूर होती थीं और न संतोष ही मिलता था। पुश्तभरके अनुभवके बाद कांग्रेस इस नतीजेपर पहुंची कि स्वराज्यके बिना चारा नहीं। यह अनुभव-संदेश तरुणोंको सुनाकर पितामह दादाभाई निवृत्त हो गये।

धुनके पक्के तरुण काममें जुट गये। गुप्त षड्यंत्र, सरकारी अहलकारोंका खून और सरकारको डराकर स्वराज्य प्राप्त करनेका अपनी दृष्टिसे स्वावलंबी प्रयोग उन्होंने शुरू कर दिया। आंदोलनके लिए पैसेकी जरूरत होती ही है। वह कहांसे लाया जाय ? यह मार्ग परावलंबी था। इसके अलावा अराजक तरुणोंके लिए वह खुला भी नहीं था। युवकोंने डाके डाल कर पैसे कमाने केस्वावलंबी मार्गका अवलंबन किया। शुरूमें इन डाकुओंकी—जिनके घरोंमें डकैती हुई उन लोगोंने तो नहीं, पर जो सुरक्षित थे, उन लोगोंने—थोड़ी-बहुत प्रशंसा भी की। इसलिए स्वार्थी डाकू भी उनके लिए इस अधिक सुसाध्य साधनका प्रयोग करने लगे। जो भजन जैसी उज्ज्वल संस्थापर भी कब्जा कर सके उनके लिए डकैती हस्तगत करना मुश्किल तो था ही नहीं। फलतः दोनों प्रकारकी डकैतियोंसे जनता पीड़ित हुई। उधर सरकारने भी दमन-नीति अख्तियार की। तरुणोंके लिए जो सहानुभूति थी

उसका स्रोत सूखने लगा। इतनेमें समझदार अहिंसावादी आये। वे कहने लगे कि पुराना वैधानिक आंदोलनका मार्ग जिस प्रकार निरर्थक था उसी प्रकार यह गुप्त साजिशोंका रास्ता भी बेकार है। इधर-उधर दो-चार खून करनेसे क्या फायदा? हिंसा भी कारगर होनेके लिए संगठित होनी चाहिए। असंगठित, अव्यवस्थित, लुक-छिपकर की हुई हिंसा किसी कामकी नहीं, और संगठित हिंसा हमारे बसकी बात नहीं है। इसलिए हमें अहिंसासे ही प्रतिकार करना चाहिए। गांधीजी हमें रास्ता दिखानेमें समर्थ हैं। उनके मार्गदर्शनसे लाभ उठाकर हमें जनताकी प्रतिकार-शक्ति संगठित करनी चाहिए। जनताकी शक्ति संगठित होनेपर उसकी बदौलत संपूर्ण नहीं तो थोडी-बहुत सत्ता हमारे हाथोंमें अवश्य आयेगी। यह सत्ता आनेपर आगे का विचार कर लेंगे।

अवश्य ही, यह अहिंसा नीति-रूपमें थी जो हमारे युवकोंको भी गुप्त षड्यंत्रोंकी असफलताके और दक्षिण अफ्रीकामें गांधीजीकी सफलताके अनुभवके कारण कुछ-कुछ जची। जो लोग अपनी परछाईंतकसे डरते थे उनको छोडकर सारा-का-सारा राष्ट्र एकत्र होकर अहिंसक प्रतिकारके इस नये आंदोलनमे शामिल हुआ। गांधीजीकी नैष्ठिक अहिंसाको जोड़ने-घटानेसे जितनी शक्ति प्रकट हो सकी उसी परिमाणमें उसका परिणाम भी निकला और संगठित हिंसाकी अव्यवहार्यता अन्वयव्यतिरेकसे सर्व-मान्य हुई।

इतनेमें यूरोपमे महायुद्धकी आग भड़की। शौर्य, साधन-संपत्ति, संगठन, साहस आदि गुणोंके लिए प्रसिद्ध शक्तिशाली राष्ट्र पांच-पाच, दस-दस दिनोंमे अपनी स्वतंत्रता गवा बैठे। बीस साल पहले वैभवके शिखरपर पहुंचा हुआ फ्रांस-जैसा राष्ट्र भी तीस लाखकी फौज खड़ी कर, इंग्लैंड-जैसे राष्ट्रका सहयोग प्राप्त कर, और शूरताकी पराकाष्ठा कर, गुलामसे भी गुलाम हो गया। जिन हाथोंने पिछले महायुद्धमें फ्रांसको विजय प्राप्त करा दी, शरण-पत्र लिखनेके लिए भी वही हाथ काम आये।

हमारी आखे खुल गईं। असंगठित हिंसा तो बेकार साबित हो ही चुकी

थी। लेकिन कार्य-समिति कहती है कि अब यह स्पष्ट हो गया कि चाहे जितने बड़े पैमानेपर की गई संगठित हिंसा भी स्वतंत्रताकी रक्षाके लिए बेकार है।

असंगठित हिसा और सुसंगठित हिंसा—नहीं, नहीं, अतिसुसंगठित हिंसा भी—दोनों या तीनों बेकार सिद्ध हो चुकी हैं। तब क्या किया जाय?

गांधीजी कहते हैं—"अहिंसाके प्रति अपनी निष्ठा दृढ़ करो।"

हम कहते हैं—"हम अभी तैयार नहीं हैं।"

"तो तैयारी करो।"

"अवसर बड़ा विकट है। नाजुक वक्त आ गया है। हम दुर्बल मनुष्य हैं। इसलिए वैसी तैयारीकी आज तुरंत गुंजाइश नहीं है।"

"तो फिर घड़ीभरके लिए स्वस्थ (शांत) रहो। मिल्टन कहता है, जो स्वस्थ (शांत) रहकर प्रतीक्षा करते हैं वे भी सेवा करते हैं।"

"हां, कहते तो और कई लोग भी ऐसा ही हैं; लेकिन हमपर जिम्मेदारी है। हमें कुछ-न-कुछ हाथ-पैर हिलाना ही चाहिए।"

पानीमें तैरनेवाला तर जाता है। पानी पर स्वस्थ (शांत) लेटनेवाला भी पानीकी सतहपर रहता है। केवल हाथ-पैर हिलानेवाला तहमें पहुंच जाता है। केवल "हम कुछ-न-कुछ कर जायंगे"से ही क्या होनेवाला है?
[१:७:४०

: २४ :

व्यवहारमें जीवन-वेतन

हर बातमें मैं गणितके अनुसार चला हूं। शिक्षा समिति (हिंदुस्तानी-तालीमी-संघ)के पाठ्यक्रममें कातने-धुननेकी जो योजना मैंने दी है उसे देखकर किशोरलालभाई-जैसे चौकन्ने सज्जनने भी कहा कि तुमने गति वगैरहका जो हिसाब रखा है उसपर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता। गणितका इस

प्रकार प्रयोग करनेवाला होनेपर भी मैं ऐसा मानता हूं कि कुछ चीजोंके 'मूले कुठारघातः' करके उन्हें तोड़ डालना चाहिए। वहा 'धीरे-धीरे', 'क्रमशः' आदि शब्द-प्रयोग उपयुक्त नहीं होता। मैं अपने जीवनमें ऐसा ही करता हूं। १९१६में मैंने घर छोड़ा। यों तो घरकी परिस्थिति कुछ ऐसी न थी कि मेरा वहा रहना असंभव हो जाय। मां तो मुझे ऐसी मिली थी कि जिसकी याद मुझे आज भी नित्य आती है। पिताजी अभी जीवित हैं। उनकी उद्योगशीलता, अभ्यासवृत्ति, साफसुथरापन, सज्जनता आदि गुण सभीको अनुकरणीय लगेंगे। लेकिन यह सब होते हुए भी मुझे ऐसा लगा कि मैं अब इस घरमे नही समा सकता! जब घर छोड़ा तब 'इंटरमीजिएट'में था। कितने ही मित्रोंने कहा—"दो ही साल और लगेंगे। बी० ए० करके डिग्री लेकर जाओ।" उस सबके लिए एक ही जवाब था कि "विचार करनेका मेरा यह ढग नही है।" घर छोड़नेके पहले भिन्न-भिन्न विषयोंके सर्टिफिकेट लेकर चूल्हेके पास बैठ गया और तापते-तापते उन्हें जलाने लगा। माने पूछा, "क्या कर रहा है?" मैने कहा, "सर्टिफिकेट जला रहा हूं।" उसने पूछा, "क्यों"? मैंने कहा, "उनकी मुझे क्या जरूरत?" माने कहा, "अरे, जरूरत न हो तो भी पडे रहे तो क्या हर्ज है? जलाता क्यो है?" "पड़े रहें तो क्या हर्ज है?" इन शब्दोंकी तहमे यह भावना छिपी हुई है कि "आगे कभी उनका उपयोग करनेकी जरूरत पड़ता?" इस घटनाकी याद मुझे पारसाल आई। सरकारने मैट्रिक-पासका मतदानका अधिकार दिया है। मुझे यह अधिकार मिल सकता है। लेकिन मेरे पास सर्टिफिकेट कहां है? एकाध रुपया खर्चकर दरख्वास्त करू तो शायद उसकी नकल मिल जाय; पर मैंने कहा कि 'क्या मतलब उस सर्टिफिकेटसे? पैंतीस करोड़ लोगोमेंसे तीन करोड़को मत-दानका अधिकार मिला है। बाकी बत्तीस करोड़को नही मिला है। मैं उन्हींके साथ क्यों न रहूं?"

मुझे मराठोंके इतिहासकी घटना याद आ रही है। गोहके कमंदकी मददसे मराठे सिंहगढ़ पर चढ़ गये। लड़ाईमें तानाजी मारा गया। उसके मारे जाते ही मराठोंकी सेना हिम्मत हारकर भागने लगी और जिस रस्सेके

बल चढ़कर वह ऊपर आई थी उसीके सहारे नीचे उतरनेका इरादा करने लगी। तब तानाजीके छोटे भाई सूर्याजीने उस रस्सेको काट डाला और चिल्लाकर कहने लगा, "मराठो, भागते कहां हो? वह रस्सा तो मैंने पहले ही काट डाला है।" यह सुनते ही मराठोंकी फौजने सोचा कि चाहे लड़ें या भागें, मरना तो निश्चित है। यह जानकर मराठा सेनाने फिर हिम्मत की और लड़ाईमें जीतकर सिंहगढ़ फतह किया। यह जो 'रस्सा काट देनेकी नीति' है, उसका उपयोग कहीं-कहीं करना ही पड़ता है। मेरे विचार इस ढंगके होनेके कारण कुछ लोगोंको वे अव्यवहार्य जान पड़ते हैं। वे मुझसे कहते हैं, "तुम्हारे विचार तो अच्छे हैं, लेकिन तुम्हें आजसे सौ बरस बाद पैदा होना चाहिए था। आजका समाज तुम्हारे विचारोंपर अमल नहीं करेगा।" इसके विपरीत कुछ लोगोंको मेरे विचार पांच-सात सौ साल पिछड़े प्रतीत होते हैं। वे कहते हैं कि साधु-संतोंका साहित्य पढ़-पढ़कर इसका दिमाग उसीसे भर गया है। वर्तमान समाजके लिए इन विचारोंका कोई उपयोग नहीं।

जब मैं पौनारमें गणपतरावके यहां रहता था तो उनके यहांकी एक स्त्री मक्खन बेचने वर्धा आई। शामतक उसे कोई गाहक न मिला, क्योंकि वर्धाके बुद्धिमान लोगोंने भाव सस्ता करनेका भाषक शास्त्र ढूंढ़ निकाला है। यथा-संभव देर करके बाजार जाना चाहिए। उस वक्त चीजें सस्ती मिलती हैं। देहातवालोंको लौटनेकी जल्दी रहती है, इसलिए वे औने-पौने अपनी चीजें बेच देते हैं। बिलकुल शामका एक भला आदमी आया। उस बेचारीने भाव दोपहरकी अपेक्षा दो-तीन आने कम ही बतलाया। तो भी वह भला आदमी मोल-मुलाई ही करता रहा। आखिर उस स्त्री ने सोचा कि अब पांच मील इसे ढोकर वापस ले जानेसे अच्छा है 'जोही हाथ सोई साथ।' उसने आधे दाममें मक्खन बेच दिया।

आज खरीददार और विक्रेता इकट्ठे होते ही सोचने लगते हैं कि सामनेवाला मुझे फंसानेपर तुला है। अतः बेचनेवाला जो भी कीमत कहे खरीददार उससे कुछ कम ही में मांगेगा। माना जाता है कि जो कम-से-कम दाममें चीज ले आये वह बड़ा होशियार है। लेकिन हम अबतक यह नहीं

समझ पाये हैं कि पैसे गंवाकर हृदय बचानेमें भी कुछ चतुराई है। जबतक कम-से-कम पैसे देनेमें चतुराई मानी जाती है तबतक गांधीजीकी बात समझमें नहीं आ सकती और न अहिंसाका प्रचार ही हो सकता है।

तरकीबें सोची जा रही हैं कि कलकत्तेमें जापानी बम बरसायें तो हम आत्मरक्षा किस तरह करें, लेकिन इनसे क्या होनेवाला है ? बम तो बरसनेवाले ही हैं। आज न सही दस साल बाद बरसेंगे। यदि एक ओर हम जापानका सस्ता माल खरीदकर उसे मदद करते रहेंगे और दूसरी ओर उसके बम न गिरें इसकी कोशिश करते रहेंगे, तो वे बम कैसे टलेंगे ? बम या युद्ध टालनेका वास्तविक उपाय तो यही है कि हम अपनी आवश्यकताकी चीजें अपने आस-पास तैयार करायें और उनके उचित दाम दें।

एक बार एक सभामें मैंने पूछा कि "हिंदुस्तानकी औसत आयु-मर्यादा इक्कीस साल और इंग्लैंडकी बयालीस साल है, तो बताइए इंग्लैंडका मनुष्य हिंदुस्तानीकी अपेक्षा कितने गुना ज्यादा जीता है ?" छोटे-छोटे बालकोंने ही नहीं बल्कि बड़े-बड़े पढ़े-लिखे लोगोंने भी जवाब दिया कि "दुगुना जीता है।" मैंने उन सबको फेल कर दिया। मैंने कहा कि "इक्कीस दूने बयालीस होते हैं, यह सही है। लेकिन हरएक आदमीकी उम्रके लड़कपनके पहले चौदह साल छोड़ देने चाहिए, क्योंकि उनसे समाजको कोई फायदा नहीं होता। ये चौदह साल यदि हम छोड़ दें तो हिंदुस्तानका आदमी सात साल और इंग्लैंडका अट्ठाईस साल जीता है। यानी हिंदुस्तानकी अपेक्षा इंगलैंडका मनुष्य दुगुना नहीं चौगुना जीता है।"

यही नियम मजदूरीमें भी घटित होता है। समाजमें यदि सभी लोग उद्योगी और परस्परावलंबी होते तो चीजोंके भाव चाहे जो होनेसे या आठ आनेकी जगह दो आने मजदूरी होनेसे कोई फर्क न पड़ता। तेलीका तेल जुलाहा खरीदता है, उसका कपड़ा तेली खरीदता है, दोनों किसानसे अनाज खरीदते हैं, किसान दोनोंसे तेल या कपड़ा खरीदता है। उस दशामें हम अनाजका भाव रुपयेका चार सेर समझें या दस सेर समझें, क्या फर्क पड़ेगा ? रोजाना मजदूरी दो आने कहें या आठ आने, क्या फर्क होगा ? क्योंकि,

जब सभी उद्योगी और परस्परावलंबी हैं तो एक चीजका जो भाव होगा उसी हिसाबसे दूसरी चीजोंके भाव भी लगाये जायंगे। महंगे दाम लगायेंगे तो व्यवहारमें बड़े-बड़े सिक्के बरतने होंगे, और सस्ते दाम लगायेंगे तो सस्ते सिक्कोंकी जरूरत होगी। महंगे भावोंके लिए रुपये लेकर बाजारमें जाना होगा। सस्ते भाव होंगे तो कौड़ियोंसे लेन-देनका व्यवहार हो सकेगा। लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। मगर आज समाजमें एक ऐसा वर्ग है कि जो न तेल पेरता है, न कपड़ा बुनता है, न अनाज पैदा करता है और न दूसरा कोई उत्पादक श्रम करता है। हम अगर चीजोंके दाम बढ़ा दें तो एक सेर भंटेके बदले आज इस वर्गकी ओरसे हमें चार पैसे मिलते होंगे तो कल दो या चार आने मिलने लगेंगे। भाव या मजदूरी बढ़ानेका यही लाभ या उपयोग है। लेकिन यह वर्ग हर हालतमें बहुत छोटा ही रहेगा। इसलिए अगर हम सबकी मजदूरी आठ आने कर दें तो वास्तवमें वह चौगुनी न पड़कर डेढ़ गुनी या दुगुनी ही पड़ेगी।

लेकिन आज आठ आने मजदूरीके सिद्धान्तको कोई ग्रहण ही नहीं करता। उसे स्वीकार करनेका मतलब है कि हमें अपनी सारी जीवनोपयोगी चीजोंके दाम मजदूरीके हिसाबसे लगाने चाहिएं। तब पता चलेगा कि ढाई-तीन सौ साल पहलेका उस बेवकूफ तुकारामका अर्थशास्त्र आज १६३८ या १६३६के आधुनिकतम अर्थशास्त्रसे मेल खाता है। हम एक ऐसी जमात बनाना चाहते हैं जो मजदूरीका उपर्युक्त सिद्धांत अमलमें लाये। हम अगर एक घड़ा खरीदने जायं तो कुम्हारिन उसके दाम दो पैसे बतलायेगी। हमें चाहिए कि हम घड़ा बनानेमें लगा हुआ वक्त पूछकर उससे कहें कि "मां, मैं तुझे इस घड़ेके दो आने दूंगा। क्योंकि इसके लिए तुझे इतने घंटे खर्च करने पड़े हैं और उन घंटोंकी इतनी मजदूरीके हिसाबसे इतने दाम होते हैं।" आप दो आने देकर वह मटका खरीदेंगे तो मटकेवाली समझेगी कि यह कोई बेवकूफ आदमी जान पड़ता है। दूसरी बार अगर आप एक झाड़ू लेने जायंगे तो वह तुरंत उसके दाम छः आने बतलायेगी। तब आप उससे सारा हिसाब पूछकर समझायेंगे कि झाड़ूके दाम छः आने नहीं बल्कि दो या

तीन आने हैं। तब वह स्त्री समझ जायगी कि यह आदमी बेवकूफ नहीं है, इसे अक्ल है और यह किसी-न-किसी हिसाबके अनुसार चलता है।

ठगा जाना एक बात है और विचार पूर्वक मौजूदा बाजार-भावकी अपेक्षा अधिक, लेकिन वस्तुतः उचित कीमत देना बिलकुल दूसरी बात है। उचित कीमत ठहरानेके लिए हमें विभिन्न धंधोंका अध्ययन कर या उन धंधोंमें पड़े हुए लोगोंसे प्रेमका संबंध कायम करके अलग-अलग चीजोंका एक समय-पत्रक बनाना होगा। उतने समयकी उचित मजदूरी तय करनी होगी और उसमें कच्चे मालकी कीमत जोड़कर जो दाम आये उतनी उस चीजकी कीमत समझनी चाहिए। यदि हम ऐसी कीमत नहीं देते तो अहिंसाका पालन नहीं करते।

अब, यह मजदूरी सब लोग आज नहीं देंगे। यदि मुमकिन हो तो हम पूरी मजदूरीका माल बेचनेवाली एक एजेन्सी खोल सकते हैं। अगर वह सारा माल विकवा दे तो कोई सवाल ही नहीं रह जाता, लेकिन अगर यह मुमकिन न हो तो मजदूरोंको आजकी तरह उसी पुराने भावमें अपना माल बेचना पड़ेगा। ऐसी हालतमें उनके सामने दो रास्ते है। एक तो यह कि वे कम दाममें अपना माल बेचनेसे इन्कार कर दें। लेकिन यह आज असंभव है। दूसरा रास्ता यह है कि मजदूरोंमें ऐसी भावना—हिसाबी वृत्ति निर्माण हो कि वे कहें कि "इस चीजकी उचित कीमत इतनी है। परंतु यह धनवान मनुष्य वह कीमत नहीं देता। तो जितनी कीमत उसने दी है उतनी जमा करके बाकीके पैसे मैंने उसे दानमें दिये, ऐसा मैं मान लूंगा।" धनाढय लोग गरीबोंको जो दे वही दान है या केवल धनाढय ही दान कर सकते हैं, यह धारणा क्यों हो? जो लोग सदा दान दे रहे हैं उन्हें इस बातका ज्ञान करा देना चाहिए कि वे दान दे रहे हैं।

पूरी मजदूरीके सिवाय समाजवाद या साम्यवादका दूसरा कोई इलाज नहीं। इतना ही नहीं, बल्कि इतना रक्तपात इस देशमें होगा जितना कि रूस या दूसरे किसी देशमें न हुआ होगा। मैंने एक व्याख्यानमें—पौनारकी खादी-यात्रामें—साक्षात् महात्मा गाधीके सामने वेदका यह मंत्र "मोघमन्नं विन्दते

अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वधइत् स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी" पढ़ा जो स्पष्ट शब्दोंमें कहता है कि जो धनिक अपने आसपासके लोगोंकी पर्वाह न करते हुए धन इकट्ठा करता है वह धन प्राप्त करनेके बदले अपना वध प्राप्त करता है। 'वध' और 'मृत्यु'में यद्यपि सायणाचार्य कोई भेद नहीं करते तथापि मेरी दृष्टिसे उन दोनोंका भेद अत्यंत स्पष्ट है। इस मंत्रको आप समाजवादका मंत्र कह सकते हैं। मजदूरों या श्रमजीवियोंके तमाम प्रश्नोंका पूरी मजदूरी ही एकमात्र अहिंसक हल है।

अब मैं आजकी खास बातपर आता हूं। ग्राम-सेवा-मडल इस तहसीलमें खादी-उत्पत्तिका प्रयत्न ज्यादा जोरोंसे करनेवाला है। "जिस मालपर चरखा-संघको कुछ नफा मिल जाता है वह खासकर वैसा माल तैयार करना चाहता है। चरखा-सघका काम कई वर्षसे पहले चल रहा है। इसलिए यद्यपि वह आज चार आने मजदूरी देनेको तैयार है तो भी हम तो तीन आने देकर ही खादी बनवायेंगे।" आदि दलीले देकर काम करना चाहता है। मैं कहता हूं कि चरखा-संघ सावलीमें तो मजदूरी 'कल्दार'में देता है, लेकिन निजाम राज्यमे 'हाली' (निजाम राज्यका सिक्का) में देता है। इसका समर्थन या इसके पीछे जो विचारधारा है उसे मै समझ सकता हूं। 'कल्दार' तीन आनेमे सावलीमें जितना सुख मिल सकता है उतना ही सुख 'हाली' तीन आनेमे मुगलाई (निजाम राज्य) में मिल सकता है, क्योकि वहा गरीबी ज्यादा है। वह विचारधारा इस प्रकार की है। उसी विचार-धाराके अनुसार सावलीकी अपेक्षा वर्धामें जीवन-निर्वाह अधिक महंगा है। इसलिए यहां सावलीसे ज्यादा मजदूरी देनी चाहिए। सावलीमें तीन आने देते हैं, इसलिए यहा भी तीन ही आने देते हैं, ऐसा कहनेसे काम न चलेगा।

अगर हम ऐसा करेंगे तो फिर वही महमूद और फिर्दौसीवाला किस्सा चरितार्थ होगा। महमूदने शाहनामेकी प्रत्येक पंक्तिके लिए एक दीनार देने-का वादा किया। लेकिन जब उसने यह देखा कि फ़िर्दौसीका लिखा हुआ शाहनामा तो बड़ा भारी ग्रंथ है तब इतने सोनेके दीनार देनेकी उसकी हिम्मत न हुई। इसलिए उसने सोनेके दीनारोंकी जगह चांदीके दीनार दिये।

मैं इधर दस या बारह बर्षसे खादीके विषयमें जिस तीव्रतासे विचार और आचरण करता हूं उतना बहुत ही थोड़े लोग करते होंगे। आज भी खादीका रहस्य कुछ लोगोंकी समझमें नहीं आया है। पिछली सभामें यहांका खादी-भंडार उठा देनेके पक्षमें मैंने जो राय दी थी वह दूसरोंकी भिन्न राय होते हुए भी आजतक कायम है। उस वक्त एक दलील यह भी पेश की गई थी कि यदि हम यहांसे खादी-भंडार उठा लेंगे तो खादी-धारियोंकी संख्या बढ़ेगी नहीं बल्कि कम हो जायगी। मैं कहता हूं कि खादीधारी कम होंगे या नहीं यह आप क्यों देखते हैं? आपकी नीति सही है या नहीं, यह क्यों नहीं देखते? शिक्षा-समितिने जो योजना बनाई है वह साल-दो सालमें व्यवहारमें लाई जायगी। तब वर्धा तहसीलकी दो लाख जनसंख्यामेंसे स्कूलमें जाने लायक दसवां हिस्सा यानी बीस हजार लड़के निकलेंगे। अगर ये लड़के तीन घंटे कातकर प्रौढ़ मनुष्यके कामका एक तिहाई यानी करीब एक घंटेका काम करें तो भी बीस हजार लोगोंको स्वावलंबी बना सकने भर खादी तैयार होगी। तजवीज यह है कि यह सारी खादी सरकार खरीदे। पर 'सरकार खरीदे' इन शब्दोंका मतलब यही हो सकता है कि 'लोग खरीदें'। क्योंकि सरकार आखिर कितनी जगहकी खादी खरीद सकती है? इसलिए अंतमें तो उसे लोग ही खरीदेंगे। इसलिए स्वाभाविक रूपसे बीस हजार खादीधारी होंगे। इस तरह खादीधारी कम हो जायगे यह डर ठीक नहीं है।

खादीके पीछे जो सही विचार-धारा है उसे समझानेकी जिम्मेदारी हमारी है। यह काम और कौन करेगा? इतने बड़े तामिलनाड प्रांतमें चरखा-संघके 'सूत-सदस्य' सिर्फ सात-आठ हैं। चरखा-संघके कर्मचारियोंका इस गिनतीमें शुमार नहीं है। जहां यह हालत है, वहां खादीके विषयमें कौन विचार करने जायगा? नियमित रूपसे सूत कातनेवाले और सूत देनेवाले लोगोंकी जरूरत है। लोग कहते हैं कि हमें कातनेके लिए फुरसत नहीं। हम सूत कातना नहीं चाहते और मजदूरीके रूपमें ज्यादा पैसा भी देना नहीं चाहते। फिर अहिंसाका प्रचार कैसे हो? राजाजीने हाल हीमें मद्रास सरकारकी ओरसे खादी-प्रचारके लिए दो लाख रुपये दिये हैं। लेकिन इतने

से क्या होनेवाला है ? पहलेकी सरकार भी गृह-उद्योगके नामपर क्या ऐसी मदद किसी हालतमें न देती ? आज सरकार चारों तरफसे परेशान की जा रही है। इधर जापानका डर है। उधर यूरोपमें भीषण लड़ाईका डर है। ऐसी परिस्थितिमें यह कौन कह सकता है कि हमें खुश करनेके लिए पुरानी सरकार भी पैसे न देती ? लेकिन ऐसे पैसोंसे खादीका असली काम पूरा नहीं होनेका।

खादीके पीछे जो विचारधारा है उसे समाजके सामने कार्यरूपमें उपस्थित करनेकी जिम्मेदारी हमारी है। इसलिए ग्रामसेवा-मंडलको मेरी यह सलाह है कि वह आठ घंटेकी आठ आने मजदूरी देकर खादी बनवाये। कम-से-कम इतना तो करे कि जिस परिमाणमें यहां (वर्धा) का जीवन-निर्वाह सावलीसे महंगा हो उस परिमाणमे ज्यादा मजदूरी देकर खादी बनवाये। इस खादीकी खपत अगर न हो तो मैं खादीधारियोंसे साफ-साफ पूछूंगा कि आप पुतलीघरका कपड़ा क्यों नहीं पहनते ? वह भी स्वदेशी तो है। समाजवादियोंके सिद्धांतके अनुसार उसपर राष्ट्रका नियंत्रण हो इतना काफी है। एकाध आदमी पूरा जीवित या पूरा मृत है, यह मैं समझ सकता हूं। लेकिन पौन जिंदा और पाव मरा हुआ है, यह कथन मेरी समझमें नहीं आ सकता। या तो वह पूरा जिंदा होगा या मरा हुआ। इसलिए अगर खादी बरतना है तो उसके मूलमें जो भावनाएं हैं, जो विचार हैं, उन सबको ग्रहण कर उसे धारण करना चाहिए। जो खादीको इस तरह अंगीकार करें वे ही दरअसल खादीधारी हैं। आजतक हम खादी शब्दकी व्याख्या 'हाथका कता और हाथका बुना कपड़ा' इतना ही करते आये हैं, अब उसमें 'पूरी मजदूरी देकर बनवाया हुआ' ये शब्द और जोड़ देने चाहिए।

: २५ :

श्रमजीविका

"ब्रेड लेबर" के मानी हैं "रोटीके लिए मजदूरी" यह शब्द आपमेंसे कई लोगोंने नया ही सुना होगा। लेकिन यह नया नहीं है। टॉल्स्टॉयने इस शब्दका उपयोग किया है। उसने भी यह शब्द बादरेसा नामक एक लेखकके निबंधोंसे लिया और अपनी उत्तम लेखन शैली द्वारा उसको दुनियाके सामने रख दिया। मैंने यह विषय जानबूझकर चुना है। शिक्षण शास्त्रका अभ्यास करते हुए भी सभव है कि इस विषयका आपने कभी विचार न किया हो। इसलिए इसी विषयपर बोलनेका मैंने निश्चय किया। इस विषयपर विचार ही नहीं बल्कि वैसा ही आचार करनेकी कोशिश भी मैं बीस सालसे करता आ रहा हूँ, क्योंकि जीवनमें और साथ-साथ शिक्षणमें भी शरीर-श्रमको मैं प्रथम स्थान देता हूँ।

हम जानते हैं कि हिंदुस्तानकी आबादी पैंतीस करोड़ है और चीनकी चालीस-पैंतालीस करोड़। ये दोनो राष्ट्र प्राचीन हैं। इन दोनाको मिला दिया जाय तो कुल आबादी अस्सी करोड़तक हो जाती है। इतनी जनसख्या दुनियाका सबसे बड़ा और महत्त्वका हिस्सा हो जाता है। और यह भी हम जानते हैं कि यही दोनों देश आज दुनियामे सबसे ज्यादा दुखी, पीड़ित और दीन हैं। इसका कारण यह है कि इन दोनो मुल्कोंने वृत्तिका जो आदर्श अपने सामने रक्खा था उसका पूरा अनुसरण उन्होंने नही किया। और बाहरके राष्ट्रोंने उस वृत्तिको कभी स्वीकार ही नही किया। मेरा मतलब यह कहनेसे है कि हिंदुस्तानमें शरीर-श्रमको जीवनमें प्रथम स्थान दिया गया था और उसके साथ यह भी निश्चय किया गया था कि वह परिश्रम चाहे जिस प्रकारका हो—कातनेका हो, बढ़ईका हो, रसोई बनानेका हो, सबका मूल्य एक ही है। भगवद्गीतामें यह बात साफ शब्दोंमें लिखी हैं। ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, वैश्य हो या शूद्र हो, किसीको चाहे जितना छोटा या बड़ा काम मिला हो, पर अगर उसने

उस कामको अच्छी तरह किया है तो उस व्यक्तिको संपूर्ण मोक्ष मिल जाता है। अब इससे अधिक कुछ कहना बाकी नहीं रह जाता। मतलब यह है कि हरएक उपयुक्त परिश्रमका नैतिक, सामाजिक और आर्थिक मूल्य एक ही हैं। इस प्राचीन धर्मका आचरण तो हमने किया नहीं, पर एक बड़ा भारी शूद्रवर्ग निर्माण कर दिया। शूद्रवर्ग यानी मजदूरी करनेवाला वर्ग। यहां जितना बड़ा शूद्रवर्ग है उतना बड़ा शायद ही किसी दूसरी जगह हो। हमने उससे अधिक-से-अधिक मजदूरी करवाई और उसको कम-से-कम खानेको दिया। उसका सामाजिक दर्जा ही न समझा। उसे कुछ भी शिक्षा नहीं दी। इतना ही नहीं, उसे अछूत भी बना दिया। नतीजा यह हुआ कि कारीगरवर्गमें ज्ञानका पूरा अभाव हो गया। वह पशुके समान केवल मजदूरी ही करता रहा।

प्राचीन कालमें हमारे यहां कला कम नहीं थी। लेकिन पूर्वजोंसे मिलनेवाली कला एक बात है और उसमें दिन-प्रति-दिन प्रगति करना दूसरी बात। आज भी काफी प्राचीन कारीगरी मौजूद है। उसको देखकर हमें आश्चर्य होता है। अपनी प्राचीन कलाको देखकर हमें आश्चर्य होता है, यही सबसे बड़ा आश्चर्य है! आश्चर्य करनेका प्रसंग हमारे सामने क्यों आना चाहिए? उन्हीं पूर्वजोंकी तो हम संतान हैं न? तब तो उनसे बढ़कर हमारी कला होनी चाहिए। लेकिन आज आश्चर्य करनेके सिवा हमारे हाथमें और कुछ नहीं रहा। यह कैसे हुआ? कारीगरोंमें ज्ञानका अभाव और हममें परिश्रम-प्रतिष्ठाका अभाव ही इसका कारण है।

प्राचीन कालमें ब्राह्मण और शूद्रकी समान प्रतिष्ठा थी। जो ब्राह्मण था वह विचार-प्रवर्त्तक, तत्त्वज्ञानी और तपश्चर्या करनेवाला था। जो किसान या वह ईमानदारीसे अपनी मजदूरी करता था। प्रातःकाल उठकर भगवान्का स्मरण करके सूर्यनारायणके उदयके साथ खेतमें काम करने लग जाता था और सायंकाल सूर्य भगवान् जब अपनी किरणोंको समेट लेते तब उनको नमस्कार करके घर वापस आता था। ब्राह्मणमें और इस किसानमें कुछ भी सामाजिक, आर्थिक या नैतिक भेद नहीं माना

जाता था।

हम जानते हैं कि पुराने ब्राह्मण "उदर-पात्र" होते थे, यानी उतना ही संचय करते थे जितना कि पेटमे अटता था। यहांतक उनका अपरिग्रही आचरण था। आजकी भाषामे कहना हो तो वे ज्यादा-से-ज्यादा काम देते थे और बदलेमें कम-से-कम वेतन लेते थे। यह बात प्राचीन इतिहाससे हम जान सकते हैं। लेकिन बादमें ऊंच-नीचका भेद पैदा हो गया। कम-से-कम मजदूरी करनेवाला ऊची श्रेणीका और हर तरहकी मजदूरी करनेवाला नीची श्रेणीका माना गया। उसकी योग्यता कम, उसे खानेके लिए कम और उसकी प्रगति, ज्ञान प्राप्त करनेकी व्यवस्था भी कम।

प्राचीन कालमे न्यायशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, वेदातशास्त्र इत्यादि शास्त्रोके अध्ययनका जिक्र हम सुनते है। गणितशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र इत्यादि शास्त्रोकी पाठशालाओका जिक्र भी आता है। लेकिन उद्योग-शालाका उल्लेख कहीं नही आया है। इसका कारण यह है कि हम वर्णाश्रमधर्म माननेवाले थे, इसलिए हरएक जातिका धधा उस जातिके लोगोंके घर-घरमे चलता था और इस तरह हरएक घर उद्योगशाला था। कुम्हार हो या बढ़ई, उसके घरमे बच्चोको बचपन हीसे उस धधेकी शिक्षा अपने पितासे मिल जाती थी। उसके लिए अलग प्रबंध करनेकी आवश्यकता न थी। लेकिन आगे क्या हुआ कि एक ओर हमने यह मान लिया कि पिताका ही धंधा पुत्रको करना चाहिए, और दूसरी ओर बाहरसे आया हुआ माल सस्ता मिलने लगा, इसलिए उसीको खरीदने लगे। मुझे कभी-कभी सनातनी भाइयोसे बातचीत करनेका मौका मिल जाता है। मैं उनसे कहता हूँ कि वर्णाश्रम-धर्म लुप्त हो रहा है। इसका अगर आपको दुःख है तो कम-से-कम स्वदेशी-धर्मका तो पालन कीजिए। बुनकरसे तो मैं कहूंगा कि अपने बापका धंधा करना तुम्हारा धर्म है, लेकिन उसका बनाया हुआ कपड़ा मैं नहीं लूंगा तो वर्णाश्रम-धर्म कैसे जिंदा रह सकता है ? हमारी इस वृत्तिसे उद्योग गया और उद्योगके साथ उद्योगशाला भी गई। इसका कारण यह है कि हमने शरीर-श्रमको नीच मान लिया। जो आदमी कम-से-कम

परिश्रम करता है वही आज सबसे अधिक बुद्धिमान् और नीतिमान् माना जाता है।

आज ही सुबह बातें हो रही थीं। किसीने कहा, "अब विनोबाजी 'किसान-जैसे दीखते हैं", तो दूसरेने कहा, "लेकिन जबतक उनकी धोती सफेद है तबतक वे पूरे किसान नहीं हैं।" इस कथनमें एक दंश था। खेती और स्वच्छ धोतीकी अदावत है, इस धारणामें दंश है। जो अपनेको ऊपर-की श्रेणीवाले समझते हैं उनको यह अभिमान होता है कि हम बड़े साफ रहते हैं, हमारे कपड़े बिल्कुल सफेद बगलेके पर-जैसे होते हैं। लेकिन उनका यह सफाईका अभिमान् मिथ्या और कृत्रिम है। उनके शरीरकी डाक्टरी जांच—मैं मानसिक जांचकी तो बात ही छोड़ देता हूं—की जाय और हमारे परिश्रम करनेवाले मजदूरोंके शरीरकी भी जांच की जाय और दोनों परीक्षाओं-की रिपोर्ट डाक्टर पेश करे और कह दे कि कौन ज्यादा साफ है। हम लोटा मलते हैं तो बाहरसे। उसमें अपना मुंह देख लीजिए। लेकिन अदरसे हमें मलनेकी जरूरत ही नहीं जान पड़ती। हमारे लिए अंदरकी कीमत ही नहीं होती। हमारी स्वच्छता केवल बाहरी और दिखावटी होती है। हमे शंका होती है कि खेतकी मिट्टीमें काम करनेवाला किसान कैसे साफ रह सकता है। लेकिन मिट्टीमें या खेतमें काम करनेवाले किसानके कपडेपर जो मिट्टीका रंग लगता है वह मैल नहीं है। सफेद कमीजके बदले किसीने लाल कमीज पहन लिया तो उसे रंगीन कपड़ा समझते हैं। वैसे ही मिट्टीका भी एक प्रकारका रंग होता है। रंग और मैलमें काफी फर्क है। मैलमें जन्तु होते हैं, पसीना होता है, उसकी बदबू आती है। मृत्तिका तो 'पुण्यगंध' होती है। गीतामें लिखा है, "पुण्योगंधःपृथिव्यांच"। मिट्टीका शरीर है, मिट्टीमें ही मिलनेवाला है, उसी मिट्टीका रंग किसानके कपड़ेपर है। तब वह मैला कैसे है? लेकिन हमको तो बिल्कुल सफेद, कपास जितना सफेद होता है, उससे भी बढ़कर सफेद कपडे पहननेकी आदत पड़ गई है। मानों 'व्हाइट वाश' ही किया है। उसे हम साफ कहते हैं। हमारी भाषा ही विकृत हो गई है।

अपनी उच्चारण-पद्धतिपर भी हमें ऐसा ही मिथ्या अभिमान है। देहाती लोग जो उच्चारण करते हैं उसे हम अशुद्ध कहते हैं। लेकिन पाणिनि तो कहते हैं कि साधारण जनता जो बोली बोलती है वही व्याकरण है! तुलसी-दासजीने रामायण आम लोगोंके लिए लिखी। वे जानते थे कि देहाती लोग 'ष', 'श' और 'स'के उच्चारणमें फर्क नही करते। आम लोगोंकी जबानमें लिखनेके लिए उन्होंने रामायणमें सब जगह 'स' ही लिखा। वे नम्र हो गये। उनको तो आम लोगोंको रामायण सिखानी थी, तो फिर उच्चारण भी उन्हींका होना चाहिए। लेकिन आजके पढ़े-लिखे लोगोंने तो मजदूरोंको बदनाम करनेका ही निश्चय कर लिया है।

हममेंसे कोई गीतापाठ, भजन और जप करता है, या कोई उपनिषद् कंठ कर लेता है, तो वह बड़ा भारी महात्मा बन जाता है। जप, संध्या, पूजा-पाठ ही धर्म माना जाता है। लेकिन दया, सत्य, परिश्रममें हमारी श्रद्धा नहीं होती। जो धर्म बेकार, निकम्मा, अनुत्पादक हो, उसीको हम सच्चा धर्म मानते हैं। जिससे पैदावार होती है, वह भला धर्म कैसे हो सकता है? भक्ति और उत्पत्तिका भी कहीं मेल हो सकता है? लेकिन वेद भगवान्में हम पढ़ते हैं—"विश्वकी उत्पत्ति करनेवालेको कुछ कृति अर्पण करो। उसने विश्वकी सृष्टिका रास्ता दिया, उसका अनुसरण करो।" लेकिन हमारी साधुकी कल्पना इससे उल्टी है। एक ब्राह्मण खेतमें खोदनेका काम कर रहा है या हल चला रहा है, ऐसी तस्वीर अगर किसीने खीच दी तो वह तस्वीर खीचनेवाला पागल समझा जायगा। "क्या ब्राह्मण भी मजदूरके जैसा काम कर सकता है?" यह सवाल हमारे यहां उठ सकता है "क्या तत्त्वज्ञानी खा भी सकता है?" यह सवाल नहीं उठता। वह मजेमे खा सकता है। ब्राह्मणको खिलाना ही तो हम अपना धर्म समझते हैं, उसीको पुण्य मानते हैं।

हिंदुस्तानकी संस्कृति इस हदतक गिर गई, इसी कारणसे बाहरके लोगोंने इन ऊपरी लोगोंको हटाकर हिंदुस्तानको जीत लिया। बाहरके लोगोंने आक्रमण क्यो किया? परिश्रमसे छुटकारा पानेके लिए। इसीलिए उन्होंने

बड़े-बड़े यंत्रोंकी खोज की। शरीर-श्रम कम-से-कम करके बचे हुए समयमें मौज और आनंद करनेकी उनकी दृष्टि है। इसका नतीजा आज यह हुआ है कि हरएक राष्ट्र अब यंत्रोंका उपयोग करने लग गया है। पहली मशीन जिसने निकाली उसकी हुकूमत तभीतक चली जबतक दूसरोंके पास मशीन नहीं थी। मशीनसे संपत्ति और सुख तभीतक मिला जबतक दूसरोंने मशीन-का उपयोग नहीं किया था। हरएकके पास मशीन आ जानेपर स्पर्धा शुरू हो गई।

आज यूरोप एक बड़ा 'चिड़ियाखाना' ही बन गया है। जानवरोंकी तरह हरएक अपने अलग-अलग पिंजड़ेमें पड़ा है। और पड़ा-पड़ा सोच रहा है कि एक-दूसरेको कैसे खा जाऊं। क्योंकि वह अपने हाथोंसे कोई काम करना नहीं चाहता। हमारे सुधारक लोग कहते हैं—"हाथोंसे काम करना बड़ा भारी कष्ट है, उससे किसी-न-किसी तरकीबसे छूट सकें तो बड़ा अच्छा हो। अगर दो घंटे काम करके पेट भर सकें तो तीन घंटे क्यों करें? अगर आठ घंटे काम करेंगे तो कब साहित्य पढ़ेंगे और कब संगीत होगा? कला-के लिए वक्त ही नहीं बचता।"

भर्तृहरिने लिखा है—"साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः"—जो साहित्य-संगीत-कलासे विहीन है वह बिना पुच्छविषाण (पूंछ और सींग) का पशु है। मैं कहता हूं—"ठीक है, साहित्य-संगीत-कला-विहीन अगर पुच्छविषाणहीन पशु है, तो साहित्य-संगीत-कलावाला पुच्छविषाणवाला पशु है।" भर्तृहरिके लिखनेका मतलब क्या था यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन उसपरसे मुझे यह अर्थ सूझ गया। दूसरे एक पंडितने लिखा है—"काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्"—बुद्धिमान् लोगोंका समय काव्य-शास्त्र-विनोदमें कटता है। मानो उनका समय कटता ही नहीं, मानो वह उन्हें खानेके लिए उनके दर-वाजेपर खड़ा है। काल तो जाने ही वाला है। उसके जानेकी चिंता क्यों करते हो? वह सार्थक कैसे होगा यह देखो। शरीर-श्रमको दुःख क्यों मान लिया है, यही मेरी समझमें नहीं आता। आनंद और सुखका जो साधन है

उसीको कष्ट माना जाता है।

एक अमेरिकन श्रीमान्से किसीने पूछा, "दुनियामें सबसे अधिक धन-वान् कौन है?" उसने जवाब दिया—"जिसकी पाचनेंद्रिय अच्छी है, वह।" उसका कहना ठीक है। संपत्ति खूब पड़ी है। लेकिन दूध भी हजम करनेकी ताकत जिसमें नहीं है उसको उस संपत्तिसे क्या लाभ? और पाच-नेंद्रिय कैसे मजबूत होती है? काव्यशास्त्रसे तो "कालो गच्छति"। उससे पाचनेंद्रिय थोड़े ही मजबूत होनेवाली है। पाचनेंद्रिय तो व्यायामसे, परिश्रमसे मजबूत होती है। लेकिन आजकल व्यायाम भी पंद्रह मिनिटका निकला है। मैंने एक किताब देखी— "फिफ्टीन मिनिट्स एक्सरसाइज"। ऐसे व्यायामसे दीर्घायुषी बनेंगे या अल्पायुषी इसकी चिंता ही नहीं होती। सैंडो भी जल्दी ही मर गया। इन लोगोंने व्यायामका शास्त्र भी हिंसक बना रक्खा है। तीन मिनिटमें एकदम व्यायाम हो जाना चाहिए। जल्दी-से-जल्दी उससे निपटकर काव्यशास्त्रमें कैसे लग जायं, यही फिक्र है। थोड़े ही समयमें एकदम व्यायाम करनेकी जो पद्धति है उससे स्नायु (मसल्स) बनते हैं, नसें (नर्व्ज) नहीं बनती। और अमरबेल जिस प्रकार पेड़को खा जाती है, वैसे ही स्नायु आरोग्यको खा जाते हैं। नसें आरोग्यको बढ़ाती है। धीरे-धीरे और सतत जो व्यायाम मिलता है उससे नसें बनतीं हैं और पाच-नेंद्रिय मजबूत होती है। चौबीस घंटे हम लगातार हवा लेते हैं; लेकिन अगर हम यह सोचने लगें कि दिनभर हवा लेनेकी यह तकलीफ क्यों उठायें, दो घंटेमें ही दिनभरकी पूरी हवा मिल जाय तो अच्छा हो, तो यही कहना पड़ेगा कि हमारी संस्कृति आखिरी दर्जेतक पहुंच गई है। हमारा दिमाग इसी तरहसे चलता है। पढ़ते-पढ़ते आंख बिगड़ जाती है तो हम ऐनक लगा लेते हैं। लेकिन आंखें न बिगड़े इसका कोई तरीका नहीं निकालते।

हमारा स्वास्थ्य बिगड़ गया है, भेदभाव बढ़ गया है और हमपर बाहरके लोगोका आक्रमण हुआ है—इस सबका कारण यही है कि हमने परिश्रम छोड़ दिया है।

यह तो हुआ जीवनकी दृष्टिसे। अब शिक्षणकी दृष्टिसे परिश्रमका

विचार करना है।

हमने शिक्षणकी जो नई प्रणाली बनाई है, उसका आधार उद्योग है, क्योंकि हम मानते हैं कि शरीरके साथ मनका निकट संबंध है। आजकल मनोविज्ञान (मानसशास्त्र) का अध्ययन करनेवाले हमें बहुत दिखाई देते हैं। पर बेचारोंको खुद अपना काम-क्रोध जीतनेका तरीका मालूम नहीं होता। मनके बारेमें इधर-उधरकी किताबें पढ़-पढ़कर दो-चार बातें कर सकते हैं। चौदह सालके बाद मनुष्यके मनमें एकाएक परिवर्त्तन होता है इसलिए सोलह सालतक लड़कोंकी पढ़ाई होनी चाहिए, यह सिद्धांत एक मानसशास्त्रीने मुझे सुनाया। सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा, "क्या मनमें परिवर्तन होनेका भी कोई पर्व होता है ? हम देखते हैं कि शरीर धीरे-धीरे बढ़ता है। किसी एक दिन एक-दम दो फुट ऊंचा हो गया हो, ऐसा नहीं होता। तो फिर मनमें ही एकदम परिवर्तन कैसे हो सकता है ?" बादमें मैंने उनको समझाया कि हड्डियां चौदह सालके बाद जरा तेजीसे बढ़ती हैं और मनका शरीरके साथ संबंध होनेसे दिमाग भी उसी हिसाबसे तेजीसे विकसित होता है। शरीर और मन दोनों एक ही प्रकृतिमें, एक ही कोटिमें आते हैं।

कार्लाइल एक भारी तत्त्ववेत्ता और विचारक था। उसके ग्रंथ पढ़ते-पढ़ते कई जगह कुछ ऐसे विचार आ जाते थे जो मेरे विचारोंसे मेल नहीं खाते थे। शंकराचार्यका जैसा सीधा, सरल विचार-प्रवाह मालूम होता है वैसा उसके लेखोंमें नहीं दीखता। उसका चरित्र बादमें मुझे पढ़नेको मिला। उससे मुझे मालूम हुआ कि कार्लाइलको सिरके दर्दकी बीमारी थी। तब मुझे उसके लेखन-दोषका कारण मिल गया। मैंने सोचा कि जिस समय उसका सिर दर्द करता होगा उस समयका उसका लेखन कुछ टेढ़ा-मेढ़ा होता होगा। योगशास्त्रमें तो मनःशुद्धिके लिए प्रथम शरीर-शुद्धि बतलाई गई है। हमारे शिक्षण-शास्त्रका भी आधार वही है। शरीर-वृद्धिके साथ मनोवृद्धि होती है। लड़कोंकी मनोवृद्धि करनी है, उनको शिक्षा देनी है, तो शारीरिक श्रम कराके उनकी भूख जाग्रत करनी चाहिए।

परिश्रमसे उनकी भूख बढेगी। जिसको दिनभरमे तीन बार अच्छी भूख लगती है उसे अधिक धार्मिक समझना चाहिए। भूख लगना जिंदा मनुष्यका धर्म है। जिसे दिनभरमें एक ही दफा भूख लगती है, संभवतः उसका जीवन अनीतिमय होगा। भूख तो भगवान्का संदेश है। भूख न होती तो दुनिया बिल्कुल अनीतिमान् और अधार्मिक बन जाती। फिर नैतिक प्रेरणा ही हमारे अंदर न होती। किसीको भी भूख-प्यास अगर न लगती तो हमें अतिथि-सत्कार-का मौका कैसे मिलता? सामने यह खभा खड़ा है। इसका हम क्या सत्कार करेंगे? इसको न भूख है, न प्यास। हमें भूख लगती है, इसलिए हमारे पास धर्म है।

लड़कोसे परिश्रम लेना है तो शिक्षकको भी उनके साथ परिश्रम करना चाहिए। क्लासमे झाड़ू लगाना होता है, लेकिन इसके लिए या तो नौकर रखे जाते हैं या लड़के झाड़ू लगाते हैं। शिक्षकको हम कभी झाड़ू लगाते नहीं देखते। विद्यार्थी क्लासमे पहले आ गये तो वे झाड़ू लगा ले, कभी शिक्षक पहले आया तो वह लगा ले, ऐसा होना चाहिए। लेकिन झाड़ू लगानेके कामको हमने नीचा मान लिया है! फिर शिक्षक भला वह कैसे करे? हम लडकोको झाड़ू लगानेका भी काम देगे तो शिक्षककी दृष्टिसे जो परिश्रम लडकोसे कराना है वह शिक्षकको पहले सीख लेना चाहिए और लड़कोंके साथ करना चाहिए। मैंने एक झाड़ू तैयार की है। एक रोज दो-तीन लड़किया वहा आई थी। तब उनको मैंने वह दिखाई और उसमें कितनी बाते भरी हैं यह समझाया। समझानेके बाद जितनी बातें मैंने कही वे सब एक-दो-तीन करके उनसे दोहरवा ली। लेकिन यह मै तभी कर सका जब झाड़ू लगानेका काम मैं खुद कर चुका था। इस तरह हरएक चीज शिक्षककी दृष्टिसे लड़कोको सिखानी चाहिए। एक आदमीने मुझसे कहा, "गाधीजीने पीसना, कातना, जूते बनाना वगैरह काम खुद करके परिश्रमकी प्रतिष्ठा बढ़ा दी।" मैंने कहा, "मैं ऐसा नही मानता। परिश्रमकी प्रतिष्ठा किसी महात्माने नही बढाई। परिश्रमकी निजकी ही प्रतिष्ठा इतनी है कि उसने महात्मा को प्रतिष्ठा दी।" आज हिंदुस्तानमें गोपाल-कृष्णकी जो इतनी प्रतिष्ठा है वह उनके गोपालनने उन्हें दी है। उद्योग

हमारा गुरुदेव है ।

दुनियाकी हरएक चीज हमको शिक्षा देती है। एक दिन मैं धूपमें घूम रहा था। चारों तरफ बड़े-बड़े हरे वृक्ष दिखाई देते थे। मैं सोचने लगा कि ऊपरसे इतनी कड़ी धूप पड़ रही है, फिर भी ये वृक्ष हरे कैसे हैं ? वे वृक्ष मेरे गुरु बन गये। मेरी समझमें आ गया कि जो वृक्ष ऊपरसे इतने हरे-भरे दीखते हैं उनकी जड़ें जमीनमें गहरी पहुंची हैं और वहांसे उन्हें पानी मिल रहा है। इस तरह अंदरसे पानी और ऊपरसे धूप, दोनोंकी कृपासे यह सुन्दर हरा रंग उन्हें मिला है। इसी तरह हमें अंदरसे भक्तिका पानी और बाहरसे तपश्चर्या-की धूप मिले तो हम भी पेड़ोंके जैसे हरे-भरे हो जायं। हम ज्ञानकी दृष्टिसे परिश्रमको नहीं देखते, इसलिए उसमें तकलीफ मालूम होती है। ऐसे लोगों-के लिए भगवान्का यह शाप है कि उनको आरोग्य और ज्ञान कभी मिलने ही वाला नहीं ।

किताबें पढ़नेसे ज्ञान मिलता है यह खयाल गलत है। पढ़ते-पढ़ते बुद्धि ऐसी हो जाती है कि जिस समय जो पढ़ते हैं वही ठीक लगता है। एक भाई मुझसे कहते थे, "मैंने समाजवादकी किताब पढ़ी तो वे विचार ठीक जान पड़े। बादमें गांधी-सिद्धांतकी पुस्तक पढ़ी तो वे भी ठीक लगे।" मैंने विनोदमें उनसे कहा, "पहली किताब दो बजे पढ़ी होगी और दूसरी चार बजे। दो बजेके लिए पहली ठीक थी और चार बजे के लिए दूसरी।" मेरे कहनेका मतलब यह है कि बहुत पढ़नेसे हमारा दिमाग स्वतंत्र विचार ही नहीं कर सकता। खुद विचार करनेकी शक्ति लुप्त हो जाती है। मेरी कुछ ऐसी राय है कि जबसे किताबें निकलीं तबसे स्वतंत्र विचार-पद्धति नष्ट हो गई है। कुरान शरीफमें एक संवाद आया है कि मुहम्मद साहबसे कुछ विद्वान् लोगोंने पूछा, "तुम्हारे पहले जितने पैगंबर आये उन सबने चमत्कार करके दिखाये। तुम तो कोई चमत्कार ही नहीं दिखाते, तो फिर पैगंबर कैसे बन गये ?" उन्होंने जवाब दिया, "आप कौन-सा चमत्कार चाहते हैं ? एक बीज बोया जाता है, उसमेंसे बड़ा-सा वृक्ष पैदा होता है, उसमें फूल लगते हैं और उनमेंसे फल पैदा हो जाते हैं। यह क्या चमत्कार नहीं है ?" यह तो एक

जवाब हो गया। दूसरा जवाब उन्होंने यह दिया कि, "मुझ-जैसा अनपढ़ आदमी भी आप लोगोंको ज्ञान दे सकता है, यह क्या कम चमत्कार है? आप और कौन-सा चमत्कार चाहते हैं?" हमारे सामनेकी सृष्टि ज्ञानसे भरी है। हम उसकी तहतक नहीं पहुचते, इस लिए उसमें जो आनंद भरा है, वह हमें नहीं मिलता।

रोटी बनानेका काम माता करती है। माताका हम गौरव करते हैं। लेकिन माताका असली माता-पन उस रसोईमें ही है। अच्छी-से-अच्छी रसोई बनाना, बच्चोंको प्रेमसे खिलाना—इसमे कितना ज्ञान और प्रेम-भावना भरी है? रसोईका काम यदि माताके हाथोंसे ले लिया जाय तो उसका प्रेम-साधन ही चला जायगा। प्रेम-भाव प्रकट करनेका यह मौका कोई माता छोड़नेके लिए तयार न होगी। उसीके सहारे तो वह जिंदा रहती है। मेरे कहनेका मतलब कोई यह न समझे कि किसी-न-किसी बहाने मैं स्त्रियोंपर रोटी पकानेका बोझ लादना चाहता हू। मै तो उनका बोझ हलका करना चाहता हूं। इसीलिए हमने आश्रममे रसोईका काम मुख्यत: पुरुषोंसे ही कराया है। मेरा मतलब इतना ही था कि जैसे रसोईका काम माता छोड़ देगी तो उसका ज्ञान-साधन और प्रेम साधन चला जायगा, वैसे ही यदि हम परिश्रमसे घृणा करेंगे तो ज्ञान-साधन ही खो बैठेंगे।

लोग मुझसे कहते है, "तुम लडकोंसे मजदूरी कराना चहते हो। उनके दिन तो गुलाबके फूल-जैसे खिलने और खेलने-कूदनेके हैं।" मैं कहता हूँ, बिल्कुल ठीक। लेकिन वह गुलाबका फूल किस तरह खिलता है, यह भी तो जरा देखो। वह पूर्ण रुपसे स्वावलबी है। जमीनसे सब सत्व चूस लेता है। खुली हवामें अकेला खडा होकर धूप,बारिश, बादल सब सहन करता है। बच्चोंको भी वैसा ही रक्खो। मै यह पसंद करता हू। उनसे पूछकर ही देखो कि फूलको पानी देनेमे, चद्रकलाको घटती-बढ़ती देखनेमें आनंद आता है, या किताबोंमें और व्याकरणके नियम घोखते रहनेमें? सुरगांव (वर्धा) का एक उदाहरण मुझे मालूम है। वहां एक प्राथमिक पाठशाला है। करीब ७ से ११ सालतकके लड़के उसमें पढ़ते हैं। गांववालोंकी राय है कि वहांका

शिक्षक अच्छा पढ़ाता है। परीक्षाको एक या दो महीने बाकी थे, तब उसने सुबह ७ से १०॥ तक और दोपहरमें २ से ५॥ तक, और रातको फिर ७ से ६ बजेतक—यानी कुल नौ घटे पढाना शुरू किया। न मालूम इतने घटे वह क्या पढाता होगा और विद्यार्थी भी क्या पढते होगे! अगर लड़के पास हो गये तो हम समझते हैं कि शिक्षकने ठीक पढाया है। इस तरह ६ ६ टे पढाई करानेवाला शिक्षक लोक प्रिय हो सकता है। लेकिन मैं तीन घटे कातनेकी बात कहूं तो कहते हैं, "यह लड़कोको हैरान करना चाहता है।" ठीक ही है। जहा बडे काममें बचनेकी फिक्रमे हों वहा लड़कोंको काम देनेकी बात भला कौन सोचे?

फिर लोग यह पूछते हैं कि "उद्योग इष्ट है, यह तो मान लिया। लेकिन उससे इतना उत्पादन होना ही चाहिए, यह आग्रह क्यो?" मेरा जवाब यह है कि "लड़कोको तो जब कोई चीज बनती है तभी आनद आता है। बेचारे मेहनत भी करें और उससे कुछ पैदा न हो, तो क्या इसमें उन्हे आनद आ सकता है? किसीसे अगर कहा जाय कि 'चक्की तो पीसो, लेकिन उसमें गेहू न डालो और आटा भी तैयार न होने दो', तो वह पूछेगा, 'फिर यह नाहक चक्की घुमानेका मतलब? तो क्या हम यह कहेंगे कि भुजाए और छाती मजबूत बनानेके लिए? ऐसे उद्योगमे क्या कुछ आनद आ सकता है? वह तो बेकारकी मेहनत हो जायगी। अत उत्पादनमे ही आनद है।"

इसलिए मुख्य दृष्टि यह है कि शरीर श्रमकी महिमाको हम समझें। प्राइमरी स्कूलोंमें हम उद्योगके आधारपर शिक्षण न देंगे तो शिक्षाको अनिवार्य न कर सकेंगे।

आज गांववाले कहते हैं कि "लड़का स्कूलमें पढने जाता है तो उसमें कामके प्रति घृणा पैदा हो जाती है और हमारे लिए वह निकम्मा हो जाता है। फिर उसे स्कूल क्यो भेजें?" लेकिन हमारी पाठशालाओंमें अगर उद्योग शुरू हो गया तो मां बाप खुशीसे अपने लड़केको स्कूल भेजेंगे। लड़का क्या पढ़ता है, यह भी देखने आयेंगे। आज तो लड़केकी क्या पढ़ाई हो रही है, यह देखनेके लिए भी मा- बाप नहीं आते। उनको उसमें रस ही नहीं मिलता।

उद्योगकी पढ़ाईमें दाखिल हो जानेके बाद इसमें फर्क पड़ेगा। गांववालोंके पास काफी ज्ञान है। हमारा शिक्षक सर्वज्ञ तो नहीं हो सकता। वह गांव-वालोंके पास जायगा और अपनी कठिनाइयां उनको बतायगा। स्कूलके बगीचेमें अच्छे पपीते नहीं लगते तो वह उसका कारण गांववालोंसे पूछेगा। फिर वे बतायेंगे कि इस-इस किस्मकी खाद डालो, खाद खराब होनेसे पपीतेमें कीड़े लग जाते हैं। हम समझते हैं कि कृषि-कालेजमें पढ़े हुए हैं, इसलिए हमारे ही पास ज्ञान है। लेकिन हमारा ज्ञान किताबी होता है। हम उसे व्यवहार में नहीं लाते। जबतक हम प्रत्यक्ष उद्योग नहीं करते तबतक उसमे प्रगति और वृद्धि नहीं होती। अगर हम गांववालोका सहयोग चाहते हैं, उनके ज्ञानसे अगर हमें लाभ उठाना है, तो स्कूलमें उद्योग शुरू करना चाहिए। हमारे और उनके सहयोगसे उस ज्ञानमें सुधार भी होगा।

यह सब तब होगा जब हमारे शिक्षकोंमें प्रेम, आनंद और श्रमके प्रति आदर उत्पन्न होगा। हमारी नई शिक्षा-प्रणाली इसी आधारपर बनाई गई है।

: २६ :

ब्रह्मचर्यकी कल्पना

यों तो हर धर्ममें मनुष्य-समाजके लिए कल्याणकारी बातें पाई जाती हैं। इस्लाम धर्ममें ईश्वर-भजन है। 'इस्लाम' शब्दका अर्थ ही 'भगवान्का भजन' है। अहिंसा भी ईसाई धर्ममें पाई जाती है। हिंदू ऋषि-मुनियोंने परीक्षा करके जो तत्त्व निकाले हैं वे भी दूसरे धर्मोंमें पाए जाते है। लेकिन हिंदूधर्मने विशिष्ट आचारके लिए एक ऐसा शब्द बनाया है जो दूसरे धर्मोंमें नहीं देख पड़ता। वह है 'ब्रह्मचर्य'। ब्रह्मचर्याश्रमकी व्यवस्था हिंदू-धर्मकी विशेषता है। अंग्रेजीमें ब्रह्मचर्यके लिए शब्द ही नहीं है। लेकिन उस भाषामें शब्द नहीं है इसका मतलब यह नहीं कि उन लोगोंमें कोई संयमी

हुआ ही नहीं। ईसामसीह खुद ब्रह्मचारी थे। वैसे अच्छे-अच्छे लोग संयमी जीवन बिताते हैं। लेकिन ब्रह्मचर्याश्रमकी वह कल्पना उन धर्मोंमें नहीं है जो हिंदू-धर्ममें पाई जाती है। ब्रह्मचर्याश्रमका हेतु यह है कि मनुष्यके जीवनको आरंभमे अच्छी खाद मिले। जैसे वृक्षको जब वह छोटा होता है तब खादकी अधिक आवश्यकता रहती है; बड़ा हो जानेके बाद खाद देनेसे जितना लाभ है, उससे अधिक लाभ जब वह छोटा रहता है तब देनेसे होता है। यही मनुष्य जीवनका हाल है। यह खाद अगर अंततक मिलती रहे तो अच्छा ही है, लेकिन कम-से-कम जीवनके आरंभ-कालमें तो वह बहुत आवश्यक है। हम बच्चोंको दूध देते हैं। उसे वह अंततक मिलता रहे तो अच्छा ही है। लेकिन अगर नहीं मिलता तो कम-से-कम बचपनमें तो मिलना ही चाहिए। शरीरकी तरह आत्मा और बुद्धिको भी जीवनके आरंभ-कालमें अच्छी खुराक मिलनी चाहिए। इसीलिए ब्रह्मचर्याश्रमकी कल्पना है। ऋषि लोग जिस चीजका स्वाद जीवनभर लेते थे उसका थोड़ा-सा अनुभव अपने बच्चोंको भी मिले, इस दयादृष्टिसे उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रमकी स्थापना की। लेकिन आज मैं उस आश्रमके विषयमें नहीं बोलूंगा। शास्त्रका आधार भी मुझे नहीं लेना है। अनुभवसे बाहरके शब्दोंका मुझे व्यसन नहीं।

अनुभवसे मैं इस निर्णयपर आया हूँ कि आजीवन पवित्र जीवन बितानेकी दृष्टिसे कोई ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहे तो ब्रह्मचर्यकी अभावात्मक विधि उसके लिए उपयोगी नहीं होती। 'दाउ शैल्ट नॉट स्टील' आज मेरे काम नहीं आयेगा। 'सत्य वद' इस तरहकी 'पॉजिटिव' यानी भावात्मक आज्ञा ब्रह्मचर्यके काममें आती है। विषय-वासना मत रक्खो, यह ब्रह्मचर्यका 'नेगेटिव' याने अभावात्मक रूप हुआ। सब इंद्रियोंकी शक्ति आत्माकी सेवामें खर्च करो, यह उसका भावात्मक रूप है। 'ब्रह्म' यानी कोई बृहत् कल्पना। अगर मैं चाहता हूं कि इस छोटी-सी देहके सहारे दुनियाकी सेवा करूं, उसके ही काममें अपनी सब शक्ति खर्च करूं, तो यह एक विशाल कल्पना हुई। विशाल कल्पना रखते हुए ब्रह्मचर्यका पालन आसान हो जाता है। ब्रह्म शब्दसे डरिए

नहीं। मान लीजिए, एक आदमी अपने बच्चेकी सेवा करता है और मानता है कि यह बच्चा परमात्मा-स्वरूप है, इसकी सेवामें सब कुछ अर्पणकर दूंगा, और तुलसीदासजी जैसे रघुनाथजीको 'जागिए रघुनाथ कुंवर' कहकर जगाते थे वैसे ही उस लड़केको जगाता है, तो उस लड़केकी भक्तिसे भी वह आदमी ब्रह्मचर्यका पालन कर सकता है। मेरे एक मित्र थे। उन्हे बीड़ी पीनेकी आदत थी। सौभाग्यसे उनके एक लडका हुआ। तब उनके मनमें विचार आया कि मुझे बीडीका व्यसन लगा है, इससे मेरा जो बिगड़ा सो बिगड़ा, लेकिन अब मेरा लड़का तो उससे बच जाय। मेरा उदाहरण लड़केके लिए ठीक न होगा। उदाहरण उपस्थित करनेके लिए तो मुझे बीड़ी छोड़ ही देनी चाहिए। और तबसे उनकी बीड़ी छूट गई। यही कल्पना थोड़ी-सी आगे बढ़कर देशसेवाकी कल्पना उनके मनमे आती तो वे संपूर्ण ब्रह्मचर्यका आसानीसे पालन कर सकते। देशकी सेवा कोई ब्रह्मभावसे करता है तो वह ब्रह्मचारी है, उसमे उसे कष्ट जरूर उठाने पड़ेंगे। लेकिन वे सब कष्ट उसे बहुत कम मालूम होंगे। माता अपने बच्चेकी सेवा रात-दिन करती है। जब उसके पास कोई सेवाकी रिपोर्ट मागने जायगा तो वह क्या रिपोर्ट देगी? आर्यसमाजके सेक्रेटरीसे कोई रिपोर्ट मागे तो सौ पन्नेकी लबी रिपोर्ट दे देगे। लेकिन माता इतनी सेवा करती है कि उसकी वह रिपोर्ट ही नही दे सकती। वह अपनी रिपोर्ट इस वाक्यमे दे देगी कि "मैंने तो लड़केकी कुछ भी सेवा नही की।" भला माताकी रिपोर्ट इतनी छोटी क्यों? इसका कारण है। माताके हृदयमे बच्चेके प्रति जो प्रेम है उसके मुकाबलेमें उसकी कुछ भी सेवा नही हुई है, ऐसा उसे लगता है। सेवा करनेमे उसे कष्ट कुछ कम नही सहने पडे हैं; लेकिन वे कष्ट उसे कष्ट मालूम नहीं हुए। इसलिए हम अपने सामने कोई बृहत् कल्पना रखेंगे तो मालूम होगा कि अभीतक तो हमने कुछ भी नही किया। इंद्रियोका निग्रह करना, यही एक वाक्य हमारे सामने हो तो हम गिनती करने लग जायंगे कि इतने दिन हुए और अभीतक कुछ फल नहीं दिखाई देता। लेकिन किसी बृहत् कल्पनाके लिए हम इंद्रिय-निग्रह करते है तो 'यह हम करते हैं', ऐसा

'कर्तरि प्रयोग' नहीं रहता। 'निग्रह किया जाता है' ऐसा 'कर्मणि प्रयोग' हो जाता है, या यों कहिए कि निग्रह ही हमें करना है। भीष्मपितामहके सामने एक कल्पना आ गई कि पिताके संतोषके लिए मुझे संयम करना है। बस, पिताका संतोष ही उनका ब्रह्म हो गया, और उससे वह आदर्श ब्रह्मचारी बन गये। ऐसे ब्रह्मचारी पाश्चात्योंमें भी हुए हैं। एक सायंटिस्टकी बात कहते हैं कि वह रात-दिन प्रयोगमें मग्न रहता था। उसकी एक बहिन थी। भाई प्रयोगमें लगा रहता है और उसकी सेवा करनेके लिए कोई नहीं है, यह देखकर वह ब्रह्मचारिणी रहकर भाईके ही पास रही और उसकी सेवा करती रही। उस बहनके लिए 'बंधु-सेवा' ब्रह्मकी सेवा हो गई। देहके बाहर जाकर कोई भी कल्पना ढूढिए। अगर किसीने हिंदुस्तानके गरीब लोगोंको भोजन देनेकी कल्पना अपने सामने रक्खी तो इसके लिए वह अपनी देह समर्पण कर देगा। वह मान लेगा कि मेरा कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह गरीब जनताका है। 'जनताकी सेवा' उसका ब्रह्म हो गई। उसके लिए जो आचार वह करेगा वही ब्रह्मचर्य है। हरएक काममें उसे गरीबोंका ही ध्यान रहेगा। वह दूध पीता होगा तो उसे पीते वक्त उसके मनमें विचार आ जायगा कि मैं तो निर्बल हूं इसलिए मुझे दूध पीना पड़ता है, पर गरीबोंको दूध कहां मिलता है! लेकिन मुझे उनकी सेवा करनी है, यह सोचकर वह दूध पियेगा। मगर इसके बाद फौरन ही वह गरीबोंकी सेवा करनेके लिए दौड़ जायगा। बस, यही ब्रह्मचर्य है। अध्ययन करनेमें अगर हम मग्न हो जायं तो उस दशामें विषय-वासना कहांसे रहेगी? मेरी माता काम करते-करते भजन गाया करती थी। रसोईमें कभी-कभी नमक भूलसे दुबारा पड़ जाता था। लेकिन चिंतनमें मैं इतना मग्न रहता था कि मुझे उसका पता ही न चलता था। वेदाध्ययन करते समय मैंने अनुभव किया कि देह मानो है ही नहीं, कोई लाश पड़ी है, ऐसी भावना उस समय हो जाती थी। इसीलिए ऋषियोंने कहा है कि 'बचपनसे वेदाध्ययन करो'। मैंने अध्ययनके लिए ब्रह्मचर्य रखा। उसके बाद देशकी सेवा करता रहा। वहां भी इंद्रिय-निग्रहकी आवश्यकता थी। लेकिन बचपनमें इंद्रिय-निग्रहका अभ्यास हो गया था, इसलिए बादमें मुझे वह कठिन नहीं

मालूम हुआ। मैं यह नही कहता कि ब्रह्मचर्य आसान चीज है। हां, विशाल कल्पना मनमें र गे तो आसान है। ऊंचा आदर्श सामने रखना और उसके लिए संयमी जीवनका आचरण, इसको मैं ब्रह्मचर्य कहता हूं।

यह हुई एक बात। अब एक दूसरी बात और है। किसी एक विषयका संयम और बाकीके विषयोका भोग, यह ब्रह्मचर्य नहीं है। कल मैंने देव-शर्माजीकी 'तरंगित हृदय' नामकी पुस्तक देखी। उसमें 'जरा-सा'के विषय-पर कुछ लिखा था। पुस्तक मुझे अच्छी लगी। 'इतना थोडा-सा करनेसे क्या होता है', ऐसा मत सोचो। बोलनेमें, रहन-सहनमें हरएक बातमें संयमकी आवश्यकता है। मिट्टीके बर्तनमें थोड़ा-सा छिद्र हो तो क्या हम उसमें पानी भरेंगे? एक भी छिद्र घडेमें है तो वह पानी भरनेके लिए बेकार ही है। ठीक उसी तरह जीवनका हाल है। जीवनमें एक भी छिद्र नही रखना चाहिए। चाहे जैसा जीवन बिताते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करेंगे, यह मिथ्या आकांक्षा है। बातचीत, भोजन, स्वाध्याय वगैरह सभी बातोमे संयम रखना चाहिए।

: २७ :

स्वतंत्रताकी प्रतिज्ञाका अर्थ

अक्सर ऐसा देखा गया है कि हमारे कार्यकर्त्ताओंको ज्ञानकी खुराक जितनी पहुचानी चाहिए उतनी पहुचाने की व्यवस्था हम नहीं करते। राष्ट्रकी विशालता और प्रश्नोंकी जटिलताके लिहाजसे हमारे पास कार्यकर्त्ता बहुत कम हैं और उन कार्यकर्त्ताओंके पास ज्ञानकी पूंजी इससे भी कम है। हमे बहुत-से कार्यकर्त्ताओंकी जरूरत है। लेकिन हम सिर्फ बड़ी संख्या नही चाहते। अगर हमारे पास कर्त्तव्यदक्ष, चरित्रवान् और अपने कार्यकी भूमिका भलीभांति समझनेवाले ज्ञानवान् कार्यकर्त्ता थोड़े भी हो तो भी काम बहुत होगा।

आजसे ठीक एक महीने बाद, २६ जनवरीको, हमें स्वतंत्रताकी प्रतिज्ञा करनी है। आजतक प्रतिज्ञाकी अधिक स्पष्ट भाषामें दुहरानी है। करीब दस वर्षसे हर साल हम उसे दुहराते हैं। इतनी बड़ी पुनरावृत्तिका क्या प्रयोजन है, यह आप लोगोंको समझानेके लिए मैं उस प्रतिज्ञाका स्पष्टीकरण कर देना चाहता हूं।

हम कहते हैं कि अब स्वराजकी लड़ाई नजदीक आ रही है, लेकिन यह गलत है। "लड़ाई करीब है" कहनेका मतलब यह होता है कि आज लड़ाई जारी नहीं है। यह बात सही नहीं है। हमारी लड़ाई तो निरंतर जारी ही है और जारी रहनी चाहिए। हमारी लड़ाईका रूप एक नदीके समान है। वह निरंतर बहती ही रहती है। फिर भी, उसके प्रवाहमें गरमियोंमें और बरसातमें फर्क होता है। जाड़ोंमें हम नदीका असली रूप देख पाते हैं, किंतु वह बहती तो अखंड रहती है। उसी प्रकार हमारी लड़ाई भिन्न-भिन्न रूप लेती हुई भी नित्य जारी है। हम कार्यकर्त्ताओंकी यह धारणा होनी चाहिए कि हम तो हमेशा लड़ाईमें ही लगे हुए हैं।

जो यह मानते हैं कि अबतक हम नहीं लड़ रहे थे और अब लड़नेवाले हैं उनके सामने यह सवाल पेश होता है कि अब लड़ाईके लिए क्या तैयारी करें? वे सोचते हैं कि अब जेलमें जाना पड़ेगा, इसलिए अपनी आदतें बदलनी चाहिए। लेकिन मैं तो कहता हूं कि हमारी लड़ाई हमेशा जारी है। हम लड़ाईकी आदतें डाल चुके हैं। अब उन आदतोंके बदलनेका क्या मतलब है? अब क्या 'बिना लड़ाईकी' आदतें डालनी होंगी? हमें निरंतर यही भाव जाग्रत रखना चाहिए कि हमारी लड़ाई हमेशा जारी है।

इस साल स्वतंत्रताकी प्रतिज्ञामें कुछ नई बातें जोड़ दी गई हैं और उन बातोंके साथ उस प्रतिज्ञाका पुनरुच्चार करनेके लिए कहा गया है। लेकिन जहां श्रद्धा न हो वहां निरी दुहरौनीसे क्या होगा? मुझे एक कहानी याद आती है। एक था साधु। उसने अपने चेलेसे कहा कि "रामनाम जपनेसे मनुष्य हरएक संकटसे पार हो सकता है।" उसके वाक्यमें शिष्यको श्रद्धा तो थी लेकिन उसे इसका पूरा-पूरा विश्वास नहीं था कि रामनाम चाहे जिस

सकटसे उसे तार देगा। एक बार उसे नदी पार करनी थी। वह बेचारा अधश्रद्धालु रामनाम रटते हुए नदी पार करने लगा। जैस तैस गलेतक पानीमे गया और वहास ग ते खाता हुआ बड़ी मुश्कलस वापस आया। गुरुसे कहने लगा, "लगातार नाम स्मरण किया, लकिन पानी कम नहा हुआ। सब अकारथ गया। गुरु बाला, 'अनेक बार नामस्मरण किया इसीलिए अका रथ गया। अगर नामस्मरणमे तझे श्रद्धा थी तो एक बार किया हुआ नाम स्मरण तुझ काफी क्या नही लगा ? श्रद्धा कम थी इसीलिए तूने बार बार नामस्मरण किया और इसीलिए गाते खाये।' स्वतत्रताकी प्रतिज्ञा एक बार मनायाग पूवक करनेव ला सचमुच निश्चयी है, यह हम मान सकते हैं। लेकिन अगर वह हर साल प्रातज्ञा करने लगे—इस साल नबर एककी प्रतिज्ञा, अगले साल नबर दाकी प्रातज्ञा, तासर साल नबर तानकी प्रतिज्ञा, इस तरह प्रतिज्ञाए करने लगे—तो यह शक हान लगगा कि इस प्रतिज्ञाका काई अथ भी है या नहीं ? केवल मौखिक पुनरुच्चारस प्रातज्ञा दृढ नहा हाती।

लेकिन इम सालकी प्रतिज्ञा महज दुहरानेके लिए नहीं है। उसमे महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण है। हमारी गुलामाके अनेक कारण ह। अग्रेजी राज्यपर हम कई आक्षेप कर सकते है, ल कन सबस बडा आक्षेप ता यह है कि अग्रजी राज्यका बदोलत हमे फाकाकशीकी दन मिली। आप अगर लागोस पूछिये कि 'आपकी स्वराज्यकी पारभाषा क्या है ता वे इस प्रकार जवाब दगे, आप कहते हे कि आठ प्राताम काग्रेसका राज स्थापित हो गया। काग्रेसका उस तरहका राज अगर ग्यारह क ग्यारहा प्रातामे हा जाय, और अबतक जा अधिकार नही मिले व भी सब मिल जाय। मगर हमारी फाकाकशी ज्या की त्या बनी रहे, ता हम तो यही कहगे कि यह स्वराज्य नहा है। यही हमारी परिभाषा है। परावलबनकी जगह स्वावलबन प्राप्त हो जाय, मगर भूखा मरना बना ही रहे, ता केवल भारतकी ही जनता नहीं, बल्कि भारतकी जनताकी जैसी शाचनाय दशामें रहनेवाली ससारके किसी भी देशकी जनता क गी कि, हम यह स्वावलबी फाकाकशी नहा चाहते। न हम स्वावलबी उपवासके कायल है न परावलबी उपवासके। हम ता भूखों

मरना ही नहा चाहते। हमें फाकाकशी हो नहीं चाहिए, फिर उसका विशे-षण कुछ भी क्यों न हो ।

कुछ वक्ता जोशमे आकर कह देते हैं कि "गुलामीमें चाहे जितना खाने को मिले, तो भी हमें गुलामी नही चाहिए, स्वतत्रता चाहिए। फिर, स्वतत्रतामें हमारी चाहे जितनी बुरी हालत हो, भूखो भी क्यो न मरना पडे।" लेकिन उन्हीं वक्ताओंस अगर आप यह पूछें कि 'अगर स्वराज्यमें रेलगाड़िया न हों तो?' तब वे कहने लगते हैं कि 'ऐसा स्वराज्य किस कामका?" उनसे पूछिए कि "रेलगाड़ीवाली गुलामीकी अपेक्षा बिना रेलगाड़ीवाली स्वतत्रता क्या अच्छी नहीं?' लेकिन बात उनके गले नही उतरेगी। "स्वराज्यकी कमी सुराज्यस पूरी नहीं हो सकती', यह कहनेवाले बिना रेलवाले स्वराज्यकी कल्पना-से भी घबराते हैं। तब बतलाइए कि अगर भूखो मरनेकी कल्पनासे साधारण आदमी घबराने लगें तो क्या आश्चय?

यहा मुझे कोकणकी कातकरी नामक जातिके एक रिवाजकी याद आती है। कातकरी अपनी जातिके मरे हुए आदमी से कहता है, "देख, अगले जनममे बामण बनेगा तो रग रटकर मरेगा अमुक बनेगा तो अमुक काम कर-करके मरेगा, लेकिन अगर कातकरी बनेगा तो बनका राजा बनेगा।" वह गावकी सस्कारवान् परतत्रता नहीं चाहता, उसे जगलकी सस्कार हीन स्व तत्रता ही प्रिय है। शहरी और बनैले चूहाकी कहानी मशहूर है। बनैला चूहा कहने लगा कि 'मुझे न शहरकी यह शान चाहिए और न यह पराधीनता।" अगर जनताकी भी यही हालत होती तो हमे सवत्र स्वतत्रता ही दिखाई देती। स्वतत्रताकी प्रतिज्ञा तो ठेठ वेद कालम चली आई है—

व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये'

इस वेद वचनमें स्वतत्रताकी प्रतिज्ञा व्यक्त की गई है। 'व्यचिष्ठ'का अर्थ है अत्यन्त व्यापक, जिसमे सबको मत-दानका अधिकार हो, और 'बहुपाय्य' से मतलब है—जिसकी बहुसख्या अल्पसख्याकी रक्षाके लिए सावधान है, ऐसे स्वराज्यके लिए हम कोशिश कर रहे हैं—यह उस प्रतिज्ञाका अर्थ है। मतलब यह कि उस अत्रि ऋषिके जमानेसे पडित जवाहरलालके इस जमानेतक वही

स्वतन्त्रताकी प्रतिज्ञा विद्यमान् है। वेदकी प्रतिज्ञा जैसी आप चाहते हैं ठीक वैसी ही है। उसमें भी बहुवचन का प्रयोग है।

सारांश यह कि हम अपने जोशीले व्याख्यानों या कविताओंमें स्वराज्य-की जो व्याख्या करते हैं वह आम जनताके गले नहीं उतरती है। जिसमें अन्न जलका इंतजाम न हो वैसा स्वराज्य जनता नहीं चाहती। उस नैमित्तिक उपवासोंका अभ्यास है। एकादशी, शिवरात्रिके दिन वह व्रत रखती है। लेकिन रोजका भूखों मरना वह सहन नहीं कर सकती। आप इसे हमारा पशुत्व भले ही कह लीजिये, लेकिन इस मानवीय पशुको पेटभर अन्न चाहिए। समाजवादियों और साम्यवादियोंके कथनमें यही तथ्यांश (सत्य) है। हमारी भी मुख्य पुकार यही है। हम फाकाकशी नहीं चाहते। हमें भरपेट अन्न चाहिए। चाहे आप इसे हमारा अधिकार कहें, कर्त्तव्य कहें, या और किसी नामसे पुकारें। भरपेट खानेकी स्वतंत्रता हमें चाहिए।

हिंदुस्तानमें इस प्रकारकी स्वतंत्रता स्थापित हो, यह हमारा प्रधान विचार है। मैं स्वराज्यके विषयमें विचार क्यों करता हूं? इसलिए कि हिंदुस्तानमें स्वराज्यके बारेमें विचार न करना महापाप है। स्वराज्यका सवाल फाकाकशी-से मुक्त होनेका सवाल है। जैसा कि तिलक महाराज कहते थे, वह 'दाल रोटी का सवाल' है।

कोई कोई पूछते हैं कि अहिंसासे स्वराज्य कैसे मिलेगा? इसकी चर्चा अगर हम आज शुरू करें तो वह स्वराज्य प्राप्तितक खत्म नहीं होगी। इसलिए मैं इस फेरमें नहीं पड़ता। वर्तमान यूरोपका चित्र अहिंसाका पदार्थ-पाठ है। अहिंसाके अभावसे क्या होता है इसका पता मौजूदा यूरोपको देखनेसे चलता है। छोटे छोटे राष्ट्र तो आज कच्चे खाये जा रहे हैं। आजकल तो सभी काम बिजलीके बटनकी तेजीसे होते हैं। पहले आदमी सौ-सौ वर्ष जीते थे, अब तड़ाक फड़ाक मर जाते हैं। पंद्रह दिनमें पूरे के पूरे राष्ट्र गायब हो जाते हैं। पहले ऐसी बातें न किसीने देखी थीं, न सुनी थीं। आज तो मानो बटन दबाते ही राष्ट्र नदारद हो जाता है। चीनका कितना बड़ा हिस्सा जापान निगल गया है, इसका आज हमें पता ही नहीं। भविष्यमें जब नया नक्शा तैयार

होगा तब हमें पता चलेगा। शस्त्रास्त्रोंकी इतनी तैयारी करनेपर भी आखिर चीनकी क्या हालत हुई ? फिर हिंदुस्तान-जैसा गलितकलेवर राष्ट्र शस्त्रास्त्रोंसे स्वराज्य कब पा सकता है ? 'यतेमहि' (कोशिश करना) तो अत्रिके जमानेसे शुरू ही है। क्या उसी तरह अनंत कालतक कोशिश ही करते रहें ? आज तो सब कोई लाठीमें ही विश्वास करते हैं।

कुछ लोग मुझसे कहते हैं कि "तुम नये विचार नहीं पढ़ते। आधुनिक विचारोंके साथ परिचय नहीं बढ़ाते।" सुनता हूं कि ये विचार यूरोपसे जहाजमें आते हैं और बंबईके बंदरपर लगते हैं। मगर उधरसे जो कुछ आता है वह सब अच्छा होता है, ऐसा तो अनुभव नहीं है। उधरसे इन्फ्लुएंजाकी हवा आई जिससे साठ लाख आदमी चल बसे। विचारोंकी हवाके ये झकोरे बराए-मेहरबानी बंद कीजिए। हम शिक्षा लेनेके लिए किस पाठशालामें जायं, यह भी तो सोचनेकी बात है। जिस शिक्षककी पाठशालामें पांच सौ छड़िया और सिर्फ दो ही चार पुस्तकें हों उसकी पाठशालामें भी क्या हम जायंगे ? यूरोपके लोग बहुत-सी पुस्तकें लिखते हैं। उनके पीछे खर्च भी बहुत करते हैं, यह मैं जानता हूं। लेकिन साथ-साथ मैं यह भी तो देखता हूं कि वे फौजपर पुस्तकोंसे कितना गुना ज्यादा खर्च करते हैं। हमे विचार भी उसीसे ग्रहण करना चाहिए जिसका उस विचारमें विश्वास हो। शंकराचार्य-जैसा कोई हो तो उससे हम विचार ले सकते है, क्योंकि उसकी तो यह प्रतिज्ञा है कि, "मैं विचार ही दूंगा।" उससे पूछिए कि "अगर मेरी समझमें न आये तो ?" तो वह यही जवाब देगा कि "मैं फिर समझाऊंगा।" "और फिर समझमें न आया तो ?" "दुबारा समझाऊंगा", "और फिर भी न आया-तो ?" "फिर समझाऊंगा, समझाता ही जाऊंगा। अंततक विचारसे ही समझाऊंगा।" जिसकी ऐसी प्रतिज्ञा है उस शंकराचार्यसे विचार सीखनेको मैं तैयार हूं। ऐसी प्रतिज्ञा अगर कोई जर्मन या रशियन करता तो उसकी पुस्तकें भी मैं खरीदता। लेकिन वह सिर्फ इतना ही कहता है कि "तुम मेरी पुस्तक पढ़ो।" और अगर हम पूछते हैं कि "हमारी समझमें न आया तो ?" तो वह जवाब देता है, "पिटोगे।" जिसका विचारोंकी अपेक्षा छड़ीमें अधिक

विश्वास है उससे विचार कैसे लें ?

यूरोपकी पद्धतिका अनुकरण करना हिंदुस्तानके खूनमें ही नहीं है। कहा जाता है कि अंग्रेजोंने हिंदुस्तानियोंके हथियार छीन लिये, यह बड़ा नैतिक अपराध किया है। मैं भी यही मानता हूं। जबरदस्ती समूचे राष्ट्रके हथियार छीनना घोर अपराध है। लेकिन मैं अपने दिलमें सोचता हूं कि इन मुट्ठीभर लोगोंने उस समयके पच्चीस करोड़ लोगोंके हथियार छीन कैसे लिये ? इन पच्चीस करोड़के हाथ क्या घास खाने गये थे ? उनके हथियार मांगते ही इन्होंने दे कैसे दिये ?" इसका एक ही कारण हो सकता है। वे हथियार हम लोगोंके जीवनके अंग नहीं थे। अगर हमारे जीवनके अंग होते तो वे छीने नहीं जाते। तुकारामने एक भले आदमीका जिक्र किया है। उसके एक हाथमें ढाल और दूसरे हाथमें तलवार थी। बेचारेके दोनों हाथ उलझे हुए थे, इसलिए वह कोई बहादुरीका काम नहीं कर सकता था। वही न्याय तो यहांपर भी घटित नहीं करना है न ? इसलिए हमारे हथियार छीन लिये गये। इसका सीधा अर्थ यही हो सकता है कि हिंदुस्तानके लोगोंके स्वभावमें हथियार नहीं थे। कुछ फौजी जातियां थीं। दूसरे लोग भी हथियार रख सकते थे। लेकिन रखे-रखे उनपर जंग चढ़ गया था।

लेकिन इसका यह मतलब हरगिज नहीं कि हिंदुस्तानके लोग बहादुर नहीं थे। इसका मतलब इतना ही है कि उनका हथियारोंपर दारमदार नहीं था। हिंदुस्तानके सारे इतिहासमें यह आरोप किसीने नहीं किया है कि यहांके लोग शूर-वीर नहीं हैं। सिकंदरको सारी धरती नरम लगी, लेकिन हिंदुस्तानमें उसने खासी ठोकर खाई। जहां - जहां ऊंट जा सकता था वहां - वहां मुसलमान मजेमें चले गये। जहां खजूर और रेत थी वहां उनका ऊंट बढ़ता चला गया। लेकिन हिंदुस्तानमें प्रवेश पानेमें उन्हें बीस साल लगे। हिंदुस्तान बहादुर नहीं था, इसका इतिहासमें कोई सबूत नहीं है।

लेकिन हमारी संस्कृतिकी एक मर्यादा निश्चित थी। इसीलिए हमने

दूसरे राष्ट्रोंपर आक्रमण कभी नहीं किया। किसी - न - किसी कारणसे हमारी संस्कृति अहिंसक रही। तभी तो हमारी पैंतीस करोड़ जनता है। यूरोपीय राष्ट्र दो या चार करोड़की ही बात कर सकते हैं। यहाँ पैंतीस करोड़ हैं।

इसका यह कारण है कि हिंसाका सिद्धांत टूटा-फूटा और अहिंसाका सिद्धांत साबित है। यूरोपकी हालत कांचके प्याले-जैसी है। जमीनपर पटकते ही टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। आप जरा एकाध कांचका प्याला जमीनपर पटककर तमाशा देखिए। यूरोपीय राष्ट्रोंके नकशोंके समान छोटे-बड़े टुकड़े हो जायंगे। लेकिन हम लोगोंने अपना पानी पीनेका साबित प्याला बड़ी हिफाजतसे रखा है। कोई सज्जन बंबई जाते हैं, वहां किरायेपर एक कमरा ले लेते हैं। अकेले एक मियां और अकेली एक बीवी—यह जनाबका परिवार कहलाने लगा। वही हाल यूरोपीय राष्ट्रोंका है। यूरोप हमें सिखाता है कि अगर हम अहिंसाका मार्ग अपनायेंगे तभी एक राष्ट्रकी हैसियतसे जी सकेंगे। यह बात हमारी जनता बड़ी जल्दी समझ जाती है। लेकिन हम शिक्षितोंके गले वह अबतक नहीं उतरती, क्योंकि हम पढ़े-लिखे लोग अंग्रेजोंके मानस-पुत्र जो ठहरे। अंग्रेजोंका हमपर वरदहस्त है। उन्होंने हमारे दिमागोंपर जादू कर दिया है। इसीलिए तो पूंजीका कहीं ठिकाना न होते हुए भी हम बड़े पैमानेपर उत्पादनकी लंबी - लंबी बातें किया करते हैं। हैसियत चरखा खरीदनेकी भी नहीं, पर बात करते हैं पुतलीघर खोलनेकी।

अंग्रेजी राजमें हमारी आम जनताका यह नुकसान हुआ है कि वह भूखों मरने लगी है और शिक्षित वर्गका नुकसान इस बुद्धि-पारतंत्र्यके रूपमें हुआ है। हम उनकी तीन करोड़की किताबें खरीदते हैं। **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'**, कहकर, हाथ जोड़कर उन पुस्तकोंको पढ़ते हैं और तीन करोड़ रुपये गुरुदक्षिणामें देते हैं। उन्होंने हमारी बुद्धि स्व-तंत्र—यानें अपने तंत्र (वश)में कर ली है। हमसे कहा जाता है कि उनसे शिक्षा लें। क्या शिक्षा लें? बहुत बड़े पैमानेपर हत्या करनेकी? क्या यह भी बड़े पैमाने-

पर उत्पादनका ही एक रूप समझा जाय ? हम उनसे क्या सीखे ? समाज-शास्त्र सीखें ? जिन लोगोंने पैंतीस करोड जनताको एकमे बांध रखा वे समाज-शास्त्र जानते हैं या वे, जो दो-दो, तीन-तीन करोडके नन्हे-नन्हे राष्ट्र बनाकर आपसमें लडते-झगड़ते रहते है ? कहा जाता है कि किसी जमानेमें फ्रांसमें एक क्राति हुई और उससे स्वतत्रता, समता तथा बधुताके सिद्धांत उत्पन्न हुए। उससे कितने ही पहले ये मुट्ठीभर पारसी इस देशमे आये और हमने उनकी रक्षा की। तो क्या हम बंधुता जानते ही न थे ? ऐ यूरोप, तेरे पास ऐसा क्या है कि हम तुझसे बंधुताका पाठ पढ़ें ? तूने हमको लूटा, क्या यही तेरी बंधुताका सबूत समझा जाय

याद रखिए कि अगर आप हिंसाके फेरमे पडे तो इस देश के यूरोपके समान छोटे - छोटे टुकड़े होकर ही नहीं रहेंगे, बल्कि हमारी खास परिस्थितिके कारण टुकड़े भी नहीं मिलेंगे। हमारा तो चूरा ही हो जायगा।

हमारी स्वतत्रताकी प्रतिज्ञाके तीन भाग हैं। पहला—**स्वतंत्रताकी आवश्यकता क्यों है,** दूसरा—**स्वतंत्रता जिस मार्गसे प्राप्त करनी है उस मार्गमें श्रद्धा,** और तीसरा—**हमारी साधन-सामग्री** अर्थात् **रचनात्मक कार्यक्रम।** अबतक दो भागोका विवरण किया। अब रचनात्मक कार्यक्रमपर आता हूं।

रचनात्मक कार्यक्रममे हिंदू-मुस्लिम-एकता, अस्पृश्यता निवारण, ग्राम-सेवा और खादी आदिका समावेश है।

मुख्य बात यह है कि हम सच्चे दिलसे और लगनसे काम करें। लोग कहते हैं, "तुम रचनात्मक कार्यक्रमपर जोर देते हो; लेकिन उधर जिन्ना क्या कहते है, अंबेडकरका क्या कहना है, वह भी तो सुनो। उसे सुनकर गुस्सा आता है।" अंबेडकर कहते है कि "इन लोगोने पूनाका समझौता किया और इन्हीं बदमाशोंने उसे तोड़ दिया।" हम कहते हैं, "हमने ईमानदारीसे उस समझौतेपर अमल करनेकी कोशिश की।" पर जरा वस्तुस्थिति तो देखिए। जनतामे क्या हो रहा ? दूरकी बात जाने दीजिए। सेवाग्राम और पौनारको

ही ले लीजिए। पौनारमें कातनेके लिए जो लड़के आते हैं उनमें कुछ हरिजन लड़के भी हैं। उनमें एक हरिजन लड़केसे मैंने कहा, "तू खाना पकाना जानता है ?" उसने कहा, "नहीं"। मैंने कहा, "हमारे यहां रसोई बनाने आया कर, हम तुझे सिखा देंगे।" वह हमारे यहा रसोई बनाने आने लगा। मैं पौनारके कुछ लोगोंको न्योता देने लगा। शुरूमें जो दस पाच लोग आये वे ही आये। अब कोई नही आता। मैं वहा गायके दूधसे घी बनाता हूं और मठा मुफ्तमें बाटता हू। लेकिन मुफ्तका मठा लेनेके लिए भी कोई नहीं आता। यह हाल है!

अच्छा, हम कार्यकर्त्ता लोग भी लगनसे काम करते हो, सो बात भी नहीं है। किसी कार्यकर्त्तासे कहा जाय कि एक हरिजन लड़केको बिलकुल अपने निजके बेटेके समान अपने परिवारमे रक्खो, तो वह कहता है कि यह बात हमारी स्त्रीको पसद नही है, मेरी मा तो मानेगी ही नहीं। "स्त्रीको पसद नही है, मा मानती नही है" यह सब सही। लेकिन इसका परिणाम क्या होता है ? यही कि हम हरिजनोंको दूर रखते हैं। इसलिए अबेडकर तो मुझे अवतार ही लगता है। चाहे किसी प्रकारकी क्या न हो, हरिजनोंमें वह चेतना तो पैदा करता है। वह हमारा भरोसा कैसे करे ? "इसे पसद नहीं है, वह मानता नहा है', इन बातोंका मूल्य हमारे नजदीक हरिजनोंको अपनानेसे भी अधिक है। हम कहते है, हम हरिजनोंको अपने घरमे नहीं रख सकते, हम उनके घर भोजन नहीं कर सकते। इस तरह हृदयसे-हृदय कैसे मिलेगा ?

समाजवादी कहता है, "तुम यह अस्पृश्यता निवारणका झंझट ही छोड़ो। गरीबी और भूखके असल सवाल को लो।" मैं कहता हूं, "भाई, तुम्हारी युक्ति बड़ी अच्छी है, मैं उसे स्वीकार करनेको भी तैयार हू। लेकिन भाई मेरे, वह काम नही आयेगी। हिंदुस्तानसे भी ज्यादा कगाल लोग दुनियामें और कहां हैं ? लेकिन मेरा मुफ्त दिया हुआ मठा भी सवर्ण लोग लेनेको तैयार नहीं हैं। यह सवाल तुम्हारी तदबीरसे हल नहीं होगा। तुम कहोगे कि अब छुआछूत कम हो चली है। रेलमें, स्कूलोंमें

लोग छूत नहीं मानते। लेकिन इसमे तो बहुत-कुछ करामात अग्रेजोकी है। इसका यह अर्थ नही कि जनताने छुआछूत मानना छोड दिया है।"

अश्वमेधसहस्रेण सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

(हजारो अश्वमेधोके साथ सत्य तोला गया ; पाया गया कि सत्य ही श्रेष्ठ है।) हरिजनोके लिए बोर्डिंग खोलना, उन्हे छात्रवृत्तिया देना, ये सब बाह्य कृतिया अश्वमेधोके समान है। ऐसे हजारो अश्वमेध यज्ञोकी अपेक्षा एक हरिजन लडका अपने परिवारमे रखना—जिस प्रेमसे हम अपने कुटुंबियोसे पेश आते है उसी प्रेमसे उसके साथ व्यवहार करना—यह सत्य अधिक महत्त्व रखता है। हमे उसके सुख-दुःखमे शामिल होना चाहिए, उन्हे अपनाना चाहिए और इस तरह उनकी स्थितिको ओढ लेना चाहिए।

हिंदू मुस्लिम-एकताके सवालसे भी ऐसा ही खिलवाड़ किया जा रहा है। आज जो कुछ हो रहा है मैं उसे खिलवाड ही कहूगा। एक कहता है, "तुम आपसमे लड़ते हो, इसलिए तुम्हे स्वराज्य नही मिलेगा।" दूसरा जवाब देता है, "स्वराज्य नहीं है इसीलिए तो आपसमे लड़ाई होती है।"—ऐसा तमाशा चल रहा है। जरा देहातमे जाकर देखिए। वहा हिंदू-मुसलमानोमे वैर नही है। सच पूछिए तो उनमे वैर है ही नही। कुछ महत्त्वाकाक्षी, बेकार और पढे-लिखे लोग दोनोको लडाकर खिलवाड करते है। इन लोगोके तीन विशेषण ध्यानमे रखिए—पढे-लिखे, महत्वाकाक्षी और बेकार। ये लोग हिंदू-मुसलमानोको बरबस उभाड़कर उनके झगड़ोका खिलौनेकी तरह उपयोग करते है।

इसका क्या इलाज किया जाय? इलाज एक ही है। जहा कहीं ऐसी दुर्घटना हो जाय वहा जाकर हम अपने प्राण दे दे। यह उपाय देहातमें काम नही आ सकता, क्योकि दगे वहासे शुरु नही होते। पढे-लिखे, बेकार और महत्त्वाकाक्षी लोग जहा दगे कराते हैं—या उनके शब्दोमे कहे तो 'व्यवस्था करते है'—वहा जाकर इसका प्रयोग करना चाहिए। इन व्यवस्थापकोने दुनियाको परेशान कर डाला है। उनसे इतनी ही विनय है

कि "भाई यह धंधा छोड़ो और खुद व्यवस्थित बनो ।" लेकिन वे मानेंगे नहीं । इसलिए यही एक इलाज है कि जहां दंगा हो जाय वहां जाकर हम अपना सिर फुड़वा लें । सौ-दो-सौ शतिपरायण लोगोको ऐसे मौको पर अपने सिर फुड़वा लेने चाहिए ।

इन झगड़ोका कोई हद्दो-हिसाब ही नहीं । ये सिर्फ हिंदू मुसलमानोंमें ही नहीं हैं । पहले ब्राह्मणेतर दल था ही । अब सुनते है, कोई मराठी-लीग भी स्थापित हुई है । भुखमरे टुकड़खोरोका बाजार गर्म है । मैं जब बड़ौदे-मे रहता था तो वहांका एक पारसी किसी त्यौहारके उपलक्षमें कभी-कभी भिखारियोंको अन्न बाटता था । उन टुकड़ोके लिए वे आपसमे लड़ते थे । वही हाल यहा है । सरकारसे जो टुकडे मिलेगे उन्हे ये बीचमे ही हड़पना चाहते हैं । हमारे तत्त्वज्ञानमे मृत्युके डरको स्थान नहीं है । और अब रोटियों-के अभावमे भूखो मरनेका भी अभ्यास हमें हो गया है । इसलिए जहा दंगा हो रहा हो वहा हमे शाति-पूर्वक जाकर बैठ जाना चाहिए । इच्छा हो तो कातना शुरू कर देना चाहिए । इतना काफी है । हम लोगोकी ऐसी धारणा है कि बिना नारियल और सिंदूर चढ़ाये पूजा नही होती । नारियलकी जगह मौसंबी, नारंगी, आम आदि चढ़ानेसे काम नहीं चलता । नारियल और सिंदूर ही चाहिए । इसलिए मैं कहता हू कि आप अपना सिर फुड़वाकर अपना रक्त चढ़ाये तो पूजा पूरी हो जायगी । लेन-देनके समझौतोसे इन झगड़ोका निबटारा नही होगा । न 'लेन' चाहिए, न 'देन' । मुस्लिम लीगसे तसफिया कैसे किया जाय ?

खादीके विषयमे भी लोग इसी तरह पूछते है । कहते हैं कि "खादी तो ठीक है, लेकिन यह कातनेकी बला आप क्यों लगा रहे हैं ?" मै कहता हू कि, "क्या करूं ? अगर कातनेके लिए न कहू तो क्या सेवई बनानेके लिए कहू ? आप तो कहते है न कि लोग भूखो मर रहे है ? ऐसी हालतमे कुछ-न-कुछ निर्माण करनेकी क्रिया ही राष्ट्रीय उपासना हो सकती है । इसीको आज अनुशासन कहते है । नही तो स्वराज्यके आंदोलनमें आप जनताको किस तरह शामिल करेंगे ?" अगर कोई काम न हो तो सिर्फ मुझ-जैसा बातूनी आदमी

ही स्वराज्यका आदोलन कर सकेगा—अर्थात् व्याख्यान दे सकेगा। लाखों, करोडो लोगों को स्वराज्यक आदोलनमें सीधे शामिल होनेकी कोई तरकीब निकालिए। जो तरकीब निकाले वह भी ऐसी होनी चाहिए कि लोग उसे सहजमें समझ सकें। अखबारवालाको जब कोई बात खास तौरपर लोगोंके सामने रखनी होती है तो वे एक एक इचके बड़े टाइपोंमें शीर्षक देते हैं। यूरोपमे तो अब सिर्फ शीर्षकोंसे ही काम नहा चलता, चित्र देने पड़ते हैं। वहाके मजदूर चित्रोंपरसे समाचार भांप जाते हैं। तात्पर्य यह कि स्थूल, स्पष्ट और लोगोंका ध्यान आकृष्ट करने लायक चीज होनी चाहिए। तभी कुछ काम होगा। खादी और चरखा लोगोंकी समझमे आसान से आनेवाला, अहिंसक आदोलनका प्रत्यक्ष चिह्न है। उससे सारे राष्ट्रमे स्फूर्तिकी आग फैल सकती है। अगर इस इमारतमे कल आग लग जाय तो इसके जलनेमे कितनी देर लगेगी? आप ऐसा हिसाब न लगाइए कि इसमे पहली चिनगारी लगनेमें चालीस साल लगे तो सारी इमारत जलनेमे कितने साल लगगे। ऐसा ऊटपटाग त्रैराशिक आप न कर। इस इमारतमे आग लगनेमे चालीस साल भले ही लग गये हो लेकिन उसके खाक होनेके लिए एक घण्टा काफी है। इसलिए तोते के समान ज्ञानके सिद्धात रटने रटानेसे काम नहीं चलेगा। सिर्फ तोता पढानेसे राष्ट्र प्रज्वलित नहीं होते।

इन्किलाब जिंदाबाद इत्यादि कई तरहके मत्र अच्छे अच्छे और पढे लिखे आदमी भी रास्तेपर उच्चस्वरसे चिल्ला चिल्लाकर पढते हैं। पढे लिखे लोग कहते है कि पुराने लोगोंका मत्रोंमे बेहद विश्वास था। मेरी शिकायत यह है कि आप लोगोंका विश्वास मत्रोंमे पुराने आदमियोंकी बानस्बत कहीं अधिक है। स्वराज्यका मत्र आप जनतातक कैसे पहुचायगे? इसका एक ही रास्ता है—मत्रके साथ तत्र भी चाहिए। जनताके साथ सपर्क कायम रखनेके लिए मत्रकी द्योतक किसी-न किसी बाह्य कृतिकी जरूरत है। इतिहासमे इस बातके सबूत विद्यमान् हैं कि ऐसे तत्रयुक्त मत्रसे समूचे राष्ट्र प्रज्वलित हो उठते हैं।

आज हम क्या माग रहे हैं? हम आज ही स्वतत्रता नहीं मागते। यह 'सौदा हम आज नहीं कर रहे हे। हम इतना ही कहते है कि आप अपनी

नेक-नीयती साबित करनेके लिए इतना तो करें कि हमारी विधान पंचायत-की माग मजूर कर लें।

यह विधान-परिषद् क्या है? आप सिर्फ शब्दोंसे चिपके न रहिए। स्वराज्य जब मिलेगा तब मिलेगा पर शब्दोंके जजालसे तो आज ही छुटकारा पाइए। विधान-परिषद्की मागका इतना ही मतलब है कि हरएक बालिग व्यक्तिको मतदानका अधिकार हो, और वह किस तरहका राज्य चाहता है यह तय करनेकी उसे आजादी हो। अगर वह यह तय करे कि मौजूदा राज ही अच्छा है तो भी कोई हर्ज नहीं।

'हरिजन'मे बापूके नाम एक अंग्रेजका लिखा पत्र छपा है। वह कहता है कि सब लोगोंकी राय लेनेके झंझटमे पड़नेके बदले सयाने लोगोंकी सलाहसे इसका निर्णय किया जाय। उसकी बात मुझे भी जचती है। 'आदमी पीछे एक राय', यह बात ता मुझे भी बेतुकी-सी मालूम होती है। हरएकको एक ही राय क्यो? एक ही सिर है इसलिए? सिरकी तरफ ध्यान गया इसलिए 'फी आदमी' एक रायका नियम बना और अगर कानोंकी तरफ ध्यान जाता तो? तब हरएककी दो दो रायें होनी चाहिए, ऐसा कहते। "हरएकके दो कान होते हैं, इसलिए हरएकके दो राये होनी चाहिए।" हरएकको एक ही रायका अधिकार होना चाहिए, इसका मुझे कोई सयुक्तिक कारण नजर नहीं आता, सिवा इसके कि हरएकको एक ही सिर होता है। क्योंकि हमारा यह अनुभव है कि एक मनुष्यमे जितनी बुद्धि होती है उसकी अपेक्षा दूसरेमें हजारगुनी अधिक होती है। फिर भी बापूने उस अंग्रेज सज्जनको जो जवाब दिया वह ठीक है। बापू पूछते है कि "ये सयाने लोग हैं कहा, और उनका प्रमाण-पत्र क्या है?" यह सवाल मुझे भी कुंठित कर देता है। मैं एक सयानेको दूसरे हजार आदमियोंकी अपेक्षा अधिक महत्त्व देता हूं। लेकिन इस सयानेपनका प्रमाण-पत्र क्या हो? आज तो यही परिभाषा हो गई है कि वायसराय जिसे प्रमाण-पत्र दे दें वही सयाना है। इस तरहके 'सयानोंने गोल-मेज परिषद्मे जो घपला किया उसे दुनिया जानती है। अगर यह कहा जाय कि जिसे काग्रेस कहेगी वही सयाना समझा जाय, तो यह बात भी बहुतसे

लोग माननेको तैयार नहीं है। हम अपने घरोमे भी यही करते हैं। जब किसी एकको या किसी बुजुर्गकी बात माननेके लिए परिवारके लोग तैयार नही होते तो हम सभीकी राय ले लेते हैं। वही अब तय किया गया है। विधान-पंचायतद्वारा हम इस प्रश्नका निपटारा करनेवाले है।

कहा जाता है कि इन निरक्षर लोगोकी राय लेनेसे काम कैसे चलेगा? मै कहता हू कि लिखने-पढनेका यह व्यर्थ बोलबाला क्यो? बिना तकलीफके दूसरे लोगोके भेजोमे ज्ञान ठू स देनेकी आलसी लोगोकी हिमाकतका नाम है लिखना-पढना। इस लिखने-पढनेमे बहुत नुकसान हुआ है। सेगावके महात्मा गाधी किशोरलाल भाईसे कुछ कहना चाहते है तो एक पुरजेपर लिखकर बंद लिफाफेमे भेजते हैं। वह लिफाफा लेकर एक अनाडी आदमी किशोरलाल भाईको द देता है और वे बापूकी बात समझ लेते है। बचपनमे हम 'बोलती चिपरी' (टाकिग चिप)* का किस्सा पढा करते थे। लोग कहते है कि "देखो क्या चमत्कार है! पढने लिखनेकी कलाकी बदौलत चिपरिया भी बोलने लगी।" मेरी यह शिकायत है कि सिर्फ चिपरिया ही बोलनेवाली नहीं हुई, बल्कि बोलनेवाले चिपरियों जैसे गूगे हो गये। अगर लिखनेकी कला न होती तो गाधीजीको अपनी जगह छोडकर किशोरलाल भाईके पास जाना पडता। लेकिन हमेशा ऐसा करना मुश्किल है। इसलिए दूसरा उपाय यह करना पड़ता कि उन्हे अपने आसपासके लोगोको अच्छी तरह समझा-बुझाकर होशियार बनाना पडता कि वे टीक-टाक सदसा पढ़ना सके। लेकिन लिखनेकी कलाकी

*दक्षिण अफ्रीकामे एक अंग्रेजको दूसरे अंग्रेजके पास एक छोटा-सा संदेश भेजना था। लिखने-लिखानेका सामान पास था नहीं। एक चिपरी (लकड़ीके टुकड़े) पर लिखकर वहांके एक आदिमवासीको दे दिया। उसने हाथमे लेकर पूछा, "क्या कहना होगा?" साहब बोला, "यह चिपरी बोल देगी।" पानेवालेने कहा, "ठीक है, समझ गया।" आदिमवासीने समझा, चिपरीने इसे बोल दिया। इससे इस 'बोलती चिपरी' पर उसे बड़ा अचरज हुआ।

बदौलत आदमियोंका काम चिपरियां बनानेसे चल सकता है। गांधीजीके पास जितने बेवकूफ आदमी रह सकते हैं उतने क्या कभी प्राचीन ऋषियोंके पास रह सकते थे? आज चिट्ठीके जरिये गांधीजीकी बात बीचके आदमियोंको लांघकर मेंढकके समान छलांग मारकर किशोरलाल भाईके पास पहुंच जाती है। "हिंदुस्तानके लोग भेड़ बकरियोंकी भांति अपढ़ हैं, तभी तो तीन-चार लाख गोरे उनपर राज्य कर सकते हैं। इतनी तो भेड़ें भी कोई नहीं संभाल सकता।" इस तरहकी बातें मैं अक्सर व्याख्यानोंमें सुनता हूं। मेरा जवाब यह है। अगर हिंदुस्तानके लोग भेड़ होते तो उनकी देखभालके लिए बहुत से लोगोंकी जरूरत पड़ती। वे आदमी हैं—और जिम्मेदार और समझदार आदमी हैं—इसलिए उनकी राज्य व्यवस्थाके लिए बहुत आदमियोंकी जरूरत नहीं। ये फालतू तीन चार लाख गोरे जब नहीं थे तब भी उनका राज्य खूब अच्छी तरह चलता था।

यहांके लोग अपढ़ भले ही हों, लेकिन अजान नहीं हैं। हमारे यहां इस पर कभी बहस नहीं हुई कि स्त्रियोंको मतदानका अधिकार हो या नहीं। यूरोपमें स्त्रियोंको मतदानके अधिकारके लिए पुरुषोंसे लड़ना पड़ा। हमारे यहां एनी बेसेंट और सरोजिनी देवीका कांग्रेसका अध्यक्षपद प्राप्त करना स्वाभाविक माना गया।

मतलब यह कि यहांके लोग समझदार और अनुभवी हैं। पढ़े-लिखे न हों, तो भी विधान पचायतके लिए प्रतिनिधि चुननेके लायक हैं।

फरवरी, १९४०]

. २८

खादी और गादीकी लड़ाई

सोनेगांवकी खादी यात्रामें शिष्ट लोगोंके लिए गादी (गद्दी) बिछाई गई थी। 'शिष्ट'की जगह चाहे 'विशिष्ट' कह लीजिए, क्योंकि वहां जो

दूसरे लोग आये थे वे भी शिष्ट तो थे ही। उस मौकेपर मुझे कहना पड़ा था कि खादी और गादीकी अनबन है, दोनोंकी लड़ाई है और अगर इस लड़ाईमें गादीकी ही जीत होनेवाली हो तो हम खादीको छोड़ दें।

लोग कहते हैं, 'खादीकी भी तो गादी बन सकती है?' हां, बन क्यों नहीं सकती? अगूरसे भी शराब बन सकती है। लेकिन बनानी नहीं चाहिए और बनानेपर उसे अगूरमें शुमार न करना ही उचित है।

हमें ध्यान देना चाहिए भावार्थकी तरफ। बीमार, कमजोर और बूढ़ोंके लिए गादीका इंतजाम किया जाय तो बात और है। लेकिन जो शिष्ट समझे जाते हैं उनमें और दूसरोंमें फर्क करके उनके लिए भेद-दर्शक गद्दी-तकिये का आसन लगाना बिल्कुल दूसरी ही चीज है। इस दूसरी तरहकी गादी और खादीमें विरोध है।

वास्तवमें तो जो गादी हमेशा आलसी लोगों और खटमलोंकी सोहबत करती है उसे शिष्ट जनोंके लिए बिछाना उनका आदर नहीं बल्कि अनादर करना है। लेकिन दुर्भाग्यवश शिष्ट लोग भी इसमें अपना अपमान नहीं समझते। हमने तो यहातक कमाल कर दिया कि शंकराचार्यकी भी गद्दी बनानेसे बाज नहीं आये! शंकराचार्य तो कह गये—"कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः"—"लंगोटिये ही सबसे बड़भागी हैं।" और किसीको यह बात चाहे जंचे या न जंचे, कम-से-कम आचार्य के भक्तों को तो जंचनी चाहिए।

राष्ट्र ऊपर उठते हैं और गिरते हैं। लेकिन आलस्य, विलासिता और जड़ता कभी ऊपर उठती ही नहीं। शिवाजी महाराज कहा करते थे कि "हम तो धर्मके लिए फकीर बने हैं।" लेकिन पेशवा तो पानीपतकी लड़ाई के लिए भी सकुटुम्ब, सपरिवार गये, मानो किसी बरात में जा रहे हो। और वहांसे कार्यसिद्धिसे हाथ धोकर अपना-सा मुंह लेकर लौटे। गिबनने कहा है—"रोम चढ़ा कैसे?" "सादगीसे"; "रोम गिरा कैसे?" "भोग-विलाससे।"

कुछ साल पहले, असहयोगके आरंभकालमें, देशके युवकों और बूढ़ोंमें

पुरुषों और स्त्रियोंमें, त्यागवृत्ति और वीरताका संचार होने लगा था। सत्रह-सत्रह आने गजवाली खादी—टाट-जैसी मोटी—लोग बड़े अभिमानसे बेचते थे और खरीदनेवाले भी अभिमानसे खरीदते थे। आगे चलकर धीरे-धीरे हम खादीका कुछ और ही ढंगसे गुणगान करने लगे। खादी बेचनेवाले गर्वसे कहने लगे, "देखिए अब खादीमें कितनी तरक्की हो गई है। बिलकुल अप-टू-डेट—अद्यतन पोशाक, विलासी, भड़कीली, महीन, जैसी आप चाहें खादीकी बनवा लीजिए। और सो भी पहलेकी अपेक्षा कितने सस्ते दामोंमें!" खरीदार भी कहने लगे, "खादीकी प्रतिष्ठा इसी तरह दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़े और एक दिन वह मिलके कपड़ेकी पूरी-पूरी बराबरी करे।" लेकिन उनकी समझमें यह मोटी-सी बात न आती थी कि यदि खादीको मिलके कपड़ेकी ही बराबरी करनी है तो फिर खादीकी जरूरत ही किसलिए है ! मिलें ही क्या बुरी हैं ? वैद्य अपनी दवाईकी तारीफ करने लगा, "बिलकुल सस्ती दवाई है, न परहेजकी जरूरत, न पथ्यकी।" मरीज आ गया चक्रमेंमें। लेकिन बेचारा यह भूल गया कि "पथ्य-परहेज नहीं तो फायदा भी नहीं।"

कोई गलत अर्थ न समझे। कहनेका यह मतलब कतई नहीं है कि मजदूरोंको पूरी पूरी मजदूरी देकर खादी सस्ती करना हमारा कर्त्तव्य नहीं है। यह भी कोई नहीं कहता कि खादी सब लोगोंकी सब तरहकी जरूरतें पूरी न करे। प्रश्न केवल इतना ही है कि खादीका गौरव किस बातमें है ? किसीकी आखें बिगड़ गई हों तो उसे ऐनक जरूर देनी चाहिए। लेकिन ऐनकधारीको देख उसे 'पद्मलोचन' कहकर उसकी बड़ाई तो नहीं की जा सकती।

यहा एक प्रसग सहज ही याद आ रहा है। एक रसिक दृष्टिवाला कलाधर एक बार पढरपुर जाकर विठोबाके दर्शन कर आया। मुझसे कहने लगा, "विठोबाके सारे भक्त उनके रूपकी प्रशंसा करते नहीं अघाते; उनके उद्घोष (स्लोगंस) सुन-सुनकर तो जी ऊब गया। लेकिन मुझे तो उस मूर्तिको देखकर कहीं भी सुन्दरताका ख्याल नहीं आया। एक निरा बेडौल पत्थर नजर आया। मूर्त्तिकार और भक्तगण दोनों, मुझे तो ऐसा लगता है कि, यदृच्छालाभसे ही संतुष्ट हो गये। पचतंत्रवाले किस्सेमें जिस तरह उन तीन धूर्तोंने

सिर्फ बार-बार कह-कहकर बकरे को कुत्ता बना दिया, ठीक उसी तरह इन लोगोंने चिल्ला-चिल्लाकर एक बेडौल पत्थरमें सुन्दरता निर्माण करनेकी ठान ली है।" मैंने जवाब दिया, "हां, यही बात है। इस संसारकी भीमा नदीमें गोते खानेवालोंको उबारनेका जिसने प्रण किया है उसे तो मजबूत, दृढ़, ठोस और हट्टा-कट्टा ही होना चाहिए। वह यदि शेष-शय्यापर लेटनेवाले या पंचायतनवा ठाट जमाकर तसवीर खिंचवानेके लिए आसन लगानेवाले देवताकी सुन्दरताका अनुकरण करे तो क्या यह उसे शोभा देगा?" रामदास ने सिखाया है—"मनुष्यके अंतरगका शृंगार है चातुर्य, वस्त्र तो केवल बाहरी सजावट है। दोनोंमें कौन-सा श्रेष्ठ है, इसका विचार करो।" इसीलिए शिवाजीको हट्टे-कट्टे मावलों-जैसे साथी मिले।

मेरा समाजवादी दोस्त कहेगा, "तुम तो बस वही अपना पुराना राग अलापने लगे। बस, फिर उसी दरिद्रनारायणकी पूजामें मगन हो गये! यहां दरिद्रताके पुजारी नहीं हैं। अपने राम तो वैभवके आराधक हैं।" मैं उससे कहना चाहता हूं, "मेरे दोस्त, इस तरह अक्लके पीछे लट्ठ लेकर मत पड़ो। हम कब दारिद्र्यको नारायण कहते है? हम तो 'दरिद्र'को नारायणके नामसे पुकारते हैं। और 'दरिद्र'को नारायण नाम दिया, इसका यह मतलब थोडे ही है कि धनिक 'नारायण' नहीं हो सकता? यदि मैं कहूं कि 'मैं ब्रह्म हूं' तो इसका यह अर्थ थोड़े ही है कि 'तुम ब्रह्म नहीं हो?' बस, अब तो संतोष हुआ? दरिद्र भी नारायण है और श्रीमान् भी। दरिद्रनारायणकी पूजा उसकी दरिद्रता दूर करनेसे पूरी होती है और श्रीमन्नारायणकी पूजा उसे सच्चे ऐश्वर्यका अर्थ समझाकर उसका त्याग करवानेसे होती है और जब किसी मूर्ख-नारायणसे पाला पड़े तो उसकी पूजा इस प्रकार विश्लेषण करके समझाने से होती है! क्यों, ठीक है न?"

लेकिन, इस यथार्थ विनोदको जाने दीजिए। अगर समाजवादी दोस्तको वैराग्य नहीं सुहाता तो वैभव ही सही। वैभव किसे कहना चाहिए और वह कैसे प्राप्त किया जाता है, इन बातोंको भी रहने दीजिए। लेकिन समाजवादी कम-से-कम साम्यवादी तो है न? दो-चार आदमियोंको नरम-नरम गादी मिले

और बाकी सबको टाटके चीथड़े या धूल नसीब हो, वह तो उसे नहीं भाता न ? जब मैंने खादी और गादीकी लड़ाईकी बात छेड़ी तो मेरे मनमें यह अर्थ भी तो था ही। सब लोगोंके लिए गादी लगाई गई होती तो दूसरा ही सवाल खड़ा होता। लेकिन यह मुमकिन नहीं था। और मुमकिन नहीं था इसीलिए मुनासिब भी नहीं था, यह ध्यानमें आना जरूरी था।

आजकल हमारे कुछ दोस्तोंमें एक ओर साम्यवाद और दूसरी ओर विषम व्यवहारका बड़ा जोर है। साम्यवाद और विषम व्यवहार बड़े आनंदसे साथ-साथ चल रहे हैं। फैजपुरके बाद हरिपुराकी कांग्रेसने विषमताकी दिशामें एक कदम और आगे बढ़ाया। अध्यक्ष, विशिष्ट पुरुष, बड़े नेता, छोटे नेता, प्रतिनिधि, माननीय दर्शकगण और देहाती जनता—इन सबके लिए वहां दर्जेवार प्रबंध किया गया था। गांधीजीके लिए यह दारुण दुःखका विषय था, यह बात जाहिर हो चुकी है। यह विषम व्यवहार खास मौकोंपर ही होता हो, सो बात भी नहीं। हमारे जीवन और मनमें उसने घर कर लिया है। "मजदूरोंको पूरा-पूरा वेतन दिया जाना चाहिए या नहीं", इस विषयपर बहस हो सकती है; पर, "व्यवस्थापकोंको पूरा वेतन दिया जाय या नहीं", इसकी बहस कोई नहीं छेड़ता। जिन्हें हम देहातकी सेवाके लिए भेजते हैं उन्हें अपना रहन-सहन ग्राम-जीवनके अनुकूल बनानेकी हिदायतें देते हैं। उन्हें देहातमें भेजने और हिदायतें देनेको तो हम तैयार रहते हैं, लेकिन हमें इस बातकी ती तो क्या, तनिक भी अनुभूति नहीं होती कि स्वयम् हमको भी अपनी हिदायतोंके अनुसार चलनेकी कोशिश करनी चाहिए। साम्यकी भेदसे दुश्मनी है, लेकिन विवेकसे तो नहीं है ? इसीलिए बूढ़ोंके लिए गादी हमने मंजूर कर ली है। इसी तरह देहातकी सेवाके लिए जानेवाले युवक कार्यकर्ता और उन्हें वहां भेजनेवाले बुजुर्ग नेताओंके जीवनमें थोड़ा-बहुत फर्क होना न्याय-संगत है और विवेक उसे मंजूर करेगा। इसीलिए साम्य सिद्धांतकी भी उसके खिलाफ कोई शिकायत नहीं रहेगी। लेकिन आज जो फर्क पाया जाता है वह थोड़ा-बहुत नहीं है। अक्सर वह बहुत मोटा, नजरमें सहज ही आनेवाला ही नहीं बल्कि चुभनेवाला होता है। इस विषम वैभव का नाम गादी है। और इस

गादीसे खादीकी दुश्मनी और लड़ाई है।

हाल ही में आश्रममें एक बातकी चर्चा हो रही थी। आश्रमकी आबादी बढ़ रही है, इसलिए अब नई जगह मोल लेकर ग्राम-रचना-शास्त्रके अनुसार व्यवस्थित नकशा बनाना चाहिए। बुनकर, कातनेवाले, बढ़ई आदि मजदूर और व्यवस्थापक-वर्ग, परिवार, दफ्तरके कार्यकर्त्ता, आश्रमवासी, मेहमान आदिके लिए किस प्रकारके मकान बनवाने चाहिए, यह मुझसे पूछा गया। पूछनेवाला खुद साम्यपूजक तो था ही, और मैं साम्यवादी हूं यह भी जानता था। मैंने कुछ मन-ही-मन और कुछ प्रकट रूपमें कहा—"मैं दाल हजम नहीं कर सकता, इसलिए दही खाता हूं। मजदूरको दहीका शौक तो है, लेकिन वह दाल हजम कर सकता है। इसलिए दालसे काम चला लेता है। इतनी विषमता तो हम विवेककी दुहाई देकर हजम कर गये। लेकिन क्या हमारे लिए मकान भी भिन्न-भिन्न प्रकारका होना जरूरी है? जिस तरहके मकानमें मजदूर अपनी जिंदगी बसर करता है, उसी तरहका मकान मेरे लिए भी काफी क्यों नहीं हो सकता? या फिर, उसका भी मकान मेरे मकानके समान क्यों न हो?"

आप चाहे वैराग्यका नाम लें चाहे वैभवका, विषमताको बर्दाश्त हरगिज न कीजिए। इसीका नाम है "आत्मौपम्य"। सच्चा साम्यवाद यही है। उस-पर तुरंत अमल किया जाना चाहिए। साम्यवादका कोई महत्त्व नहीं है; महत्त्व है "तत्काल साम्यवाद"का। साम्यवादको तुरत कार्यान्वित करनेकी सिफतका नाम अहिंसा है। अहिंसा हरएकसे कहती है कि "तू अपने-आपसे प्रारंभ कर दे तो तेरे लिए तो आज ही साम्यवाद है।" अहिंसाका चिह्न है खादी। खुद खादी ही अगर भेदभाव सहे, तब तो यही कहना होगा कि उसने अपने हाथों अपना गला घोंट लिया।

इस सारे अर्थका संग्राहक सूत्र-वाक्य है—**"खादी और गादीमें लड़ाई है।"**

: २९ :

निर्दोष दान और श्रेष्ठ कलाका प्रतीक—खादी

खादी पहननेमें महान् धर्म है। हम लोगोंमें धर्म करनेकी वृत्ति है। दान करनेकी वृत्ति भी है। यह बहुत अच्छी बात है। इस भूमिमें अनेक साधु-सत पैदा हुए और उन्होंने भारतीय जीवनको दान भावनासे भर दिया है। आप सब सालभरमें कुछ-न कुछ दान करते हैं, धर्म करते हैं। लेकिन दान करते समय आप कभी विचार भी करते हैं? आज तो हमने विचारसे इस्तीफा ही दे दिया है। विवेक अब हमारे पास रहा ही नहीं। विचारका चिराग बुझ जानेसे आचार अंधा हो गया है। मेरे नजदीक विचार या बुद्धिकी जितनी कीमत है उतनी तीनों लोकमें और किसी चीजकी नहीं है। बुद्धि बहुत बड़ी चीज है। आप जब दान देते हैं तो क्या सोचते हैं? चाहे जिसे दान दे देनेसे क्या वह धर्मकार्य भली-भांति हो जाता है? दान और त्यागमें भेद है। हम त्याग उस चीजका करते हैं जो बुरी होती है। अपनी पवित्रता को उत्तरोत्तर बढ़ानेके लिए हम उस पवित्रतामें बाधा डालनेवाली चीजोंका त्याग करते हैं। घरको स्वच्छ करनेके लिए कूडे करकटका त्याग करते हैं, उसे फेंक देते हैं। त्यागका अर्थ है फेंक देना। लेकिन दानका मतलब फेंकना नहीं है। हमारे दरवाजेपर कोई भिखारी आ गया, कोई बाबाजी आ गये, दे दी उसे एक मुट्ठी अन्न या एकाध पैसा—इतनेसे दानक्रिया नहीं होती। वह मुट्ठी भर अन्न आपने फेंक दिया, वह पैसा फेंक दिया। उस कर्ममें लापरवाही है। उसमें न तो हृदय है और न बुद्धि। बुद्धि और भावनाके सहयोगसे जो क्रिया होती है वही सुंदर होती है। दानके मानी 'फेंकना' नहीं बल्कि 'बोना' है।

बीज बोते समय जिस तरह हम जमीन अच्छी है या नहीं इसका विचार करते हैं, उसी तरह हम जिसे दान देते हैं वह भूमि, वह व्यक्ति, कैसा है इस तरफ ध्यान देना चाहिए। किसान जब बीज बोता है तो एक दानेके

सौ दाने करनेके खयालसे बोता है। वह उसे बड़ी सावधानीसे बोता है। घरके दाने खेतमें बोता है। उन्हें चाहे जैसे बेतरतीब बखेर नहीं देता। घरके दाने तो कम थे लेकिन वहां खेतमें वे सौ गुने बढ़ गये। दान-क्रियाका भी यही हाल है। जिसे हमने मुट्ठी-भर दाने दिये, क्या वह उनकी कीमत बढ़ायेगा? क्या वह उन दानोंकी अपेक्षा सौ गुने मूल्यका कोई काम करेगा? दान करते समय लेनेवाला ऐसा ढूंढ़िए जो उस दानकी कीमत बढ़ाए। हम जो दान करें वह ऐसा हो जिससे समाजको सौ गुना फायद पहुँचे। वह दान ऐसा हो जो समाजको सफल बनाये। हमें यह विश्वास होना चाहिए कि उस दानकी बदौलत समाजमें आलस्य, व्यभिचार और अनीति नहीं बढ़ेगी। आपने एक आदमीको पैसे दिये, दान दिया और उसने उनका दुरुपयोग किया, उस दानके बलपर अनीतिमय आचरण किया, तो उस पापकी जिम्मेदारी आपपर भी है। उस पापमय मनुष्यसे सहयोग करनेके कारण आप भी दोषभागी बने। आपको यह देखना चाहिए कि हम असत्य, अनीति, आलस्य, अन्यायसे सहयोग कर रहे हैं या सत्य, उद्योग, श्रम, लगन, नीति और धर्मसे। आपको इस बातका विचार करना चाहिए कि आपके दिये हुए दानका उपयोग होता है या दुरुपयोग। अगर आप इसका खयाल न रखेंगे तो आपकी दान-क्रियाका अर्थ होगा किसी चीजको लापरवाहीसे फेंक देना। हम जो दान देते हैं उसकी तरफ हमारा पूरा-पूरा ध्यान होना चाहिए। दानका अर्थ है बीज बोना। आपको यह देखना चाहिए कि यह बीज अंकुरित होकर इसका पौधा बढ़ता है या नहीं।

तगड़े और तंदुरुस्त आदमीको भीख देना, दान करना अन्याय है। कर्महीन मनुष्य भिक्षाका, दानका अधिकारी नहीं हो सकता।

भगवान्‌का कानून है कि हरएक मनुष्य अपनी मेहनतसे जिये। दुनियामें बिना शारीरिक श्रमके भिक्षा मागनेका अधिकार केवल सच्चे संन्यासीको है। सच्चे संन्यास को—जो ईश्वर-भक्तिके रंगमें रंगा हुआ है ऐसे संन्यासीको—ही यह अधिकार है। क्योंकि ऊपरसे देखनेमें भले ही ऐसा मालूम पड़ता

हो कि वह कुछ नहीं करता, फिर भी दूसरी अनेक बातोंसे वह समाजकी सेवा किया करता है। पर ऐसे सन्यासीको छोड़कर और किसीको भी अकर्मण्य रहनेका अधिकार नहीं है। दुनियामें आलस्य बढाने - सरीखा दूसरा भयंकर पाप नहीं है।

आलस्य परमेश्वरके दिये हुए हाथ पैरोंका अपमान है। अगर कोई अधा हो तो उसे रोटी तो मुझे देनी चाहिए, लेकिन उसका भी सात-आठ घटे काम दूंगा ही। उसे कपास लोढनेका काम दे दूंगा। जब एक हाथ थक जाय तो दूसरा हाथ काममें लाये और इस तरह वह आठ घन्टे परिश्रम करे और मेहनतकी रोटी खाये। अधे लूले और लगड़े भी जो काम कर सकें वह काम उनसे कराके उन्हे रोटी देनी चाहिए। इससे श्रमकी पूजा होती है और अन्नकी भी। इसलिए जिसे आप दान देते है वह कुछ समाज सेवा, कुछ उपयोगी काम करता है या नही, यह भी आपको देखना चाहिए। उस दानको बोया हुआ बीज समझिए। समाजको उसका पूरा पूरा बदला मिलना जरूरी है। अगर दाता अपने दानके विषयमें ऐसी दृष्टि नहा रखेगा तो वह दान धर्मके बदले अधर्म होगा। अविवेक या निरी लापरवाहीका काम होगा।

हर किसीको कुछ-न-कुछ दे देनेसे, भोजन करानेसे, बिना विचारे दान-धर्म करनेसे अनर्थ होता है। अगर कोई गोरक्षिणी या गोशालाको कुछ देना चाहता है तो उसे देखना चाहिए कि क्या उस गोशालासे अधिक दूध-वाली गायें निकलनेवाली हैं? क्या वहा गायोंकी नस्ल सुधारनेकी भी कोशिश होती है? क्या बच्चोंको गायका सुन्दर और स्वच्छ दूध मिलता है? क्या वहासे अच्छी अच्छी जोडिया खेतीके लिए मिलती हैं? क्या गोरक्षण और गोवर्धनकी वैज्ञानिक छानबीन वहा होती है? जहा मरियल गायोंकी भरमार है, बेहद गदगीसे सारी हवा दूषित हो रही है, ऐसे पिंजरा-पोल रखना दान धर्म नहीं है। किसी भी संस्था या व्यक्तिको आप जो कुछ देते हैं उससे समाजको कहांतक लाभ होता है, यह आपको देखना ही चाहिए। हिंदुस्तानमें दान वृत्ति तो है, लेकिन उसमें विवेक विचार न होनेके

कारण समाज समृद्ध और सुन्दर दिखनेके बजाय आज निस्तेज, दबा हुआ और रोगी दिखाई देता है। आप पैसे फेंकते हैं, बोते नहीं हैं। इससे न इह-लोक बनता है, न परलोक, यह आप न भूलें।

दानका भी एक शास्त्र है! वह कोई विवेकशून्य क्रिया नहीं है। खादी पहनकर हम इस दान-कर्मको बड़े उत्कृष्ट ढंगसे संपन्न कर सकते हैं। मैं यह आपको समझा दूंगा। आपकी बुद्धिमें न्यायसंगत जंचे तभी आप इसे मानें। आप लोगोंमें बहुतेरे व्यापारी हैं। और व्यापारी तो बड़े हिसाबी होते हैं। मुझे हिसाबी आदमी बहुत पसंद हैं। हिसाबी वृत्तिका अर्थ है हरएक वस्तुकी उपयोगिता देखना। यह आध्यात्मिक चीज है। साधु-संतोंकी ऐसी कई कथाएं है कि वे एक-एक पाईके हिसाबके लिए रातभर जागते रहे। परमार्थका मतलब है बहुत उत्कृष्ट हिसाब। परमार्थके मानी बावलापन नहीं है। परमार्थ बहुत श्रेष्ठ व्यापार है। उसका अर्थ है हरएक क्रियाकी ओर विचारपूर्वक देखना। मैं आज आप लोगोंको जमा-खर्च लिखना सिखानेवाला हू। आप कहेंगे, "लीजिये, यह बाबाजी अब हमें हिसाब रखना सिखायेंगे! यहा तो सारी उम्र जमा-खर्चमें ही गुजरी है।" लेकिन मैं फिर साफ साफ कहता हू कि आप जमा - खर्च नही जानते। यह आपको मुझसे सीखना चाहिए।

लोग कहते हैं कि खादी महंगी होती है। मैंने दोपहरको कुछ मित्रो को हिसाब करके दिखा दिया कि वह महंगी नहीं है। उन्होंने मुझे आंकड़े बतलाये। सालमे अगर मिलका कपड़ा १०) का खरीदना पड़े तो उतनी ही खादीके दाम १५) हो जाते हैं। मतलब यह कि हर महीने साढे छः आने ज्यादा देने पड़ते है। यानी हर रोज करीब ढाई पाई, अर्थात् लगभग कुछ नहीं। जो जनता स्वराज्य प्राप्त करना चाहती है वह अगर रोज ढाई पाई भी न दे सकती हो और पाच तोले अधिक वजन होनेके कारण खादी न बरत सकती हो, तो वह साफ शब्दोमे यही क्यों नही कह देती कि हमें न स्वराज्यकी चाह है और न स्वतंत्रताकी। लेकिन इसे जाने दीजिये। मैं दूसरी ही बात कहूंगा। आप जब मिलका कपड़ा खरीदते हैं तो १०) कपड़े खाते खर्च

लिखते हैं और खादी खरीदते हैं तो लिखते हैं १५) कपड़े खाते नाम। लेकिन मैं कहता हूं कि खादीका हिसाब लिखने में आपको १५) खादी-खाते खर्च नहीं लिखना चाहिए। १५)के दो भाग कीजिये। १०) का कपड़ा और ५) दान-धर्म, कुल मिलाकर १५) इस तरह हिसाब लिखिए। आपको जो ५) अधिक देने पड़े वे दूर रहनेवाले श्रमिकोंको मिले। यह वास्तविक दान-धर्म है। खादी कितने लोगोंको आश्रय दे सकती है, इसका विचार कीजिए। हमारे देशकी मिले तिहाई हिन्दुस्तानके कपड़ोकी जरूरत पूरी करती हैं। अगर हम यह समझ ले कि उनमें पाच लाख मजदूर काम करते हैं तो हिंदुस्तानकी मिलोका कपड़ा खरीदनेसे पांच लाख मजदूरोंको रोजी मिलती है। सारे हिंदुस्तानकी जरूरत पूरी करने लायक कपड़ा तैयार करनेका वे इरादा कर लें तो १५ लाख मजदूरोंको काम मिलेगा। परन्तु खादी?—खादी करोड़ों मजदूरोंको काम दे सकती है। अगर हम विलायती कपड़ा बिल्कुल न खरीदें तो मिलके जरिये १५ लाख मजदूरोंको काम दे सकते हैं। लेकिन अगर खादी मोल ले तो करोड़ो मजदूरोंको काम दे सकते हैं। खादी न खरीदना करोड़ो लोगोंके मुहका कौर छीन लेनेके बराबर है। आधुनिक अर्थशास्त्रका सबसे बड़ा सिद्धान्त यह है कि संपत्तिका जितना वितरण हो उतना ही समाजका कल्याण होगा। किसी एकके पास दौलत न रहने पाये, वह बंट जानी चाहिए। यह बात खादीके द्वारा हो हो सकती है। मिलका पैसा मिलवाले और उनके हिस्सेदारोंकी जेबमे जाता है। खादीके द्वारा उसका वितरण होता है। आना आना, आध-आध आना उन गरीबोंको मिलेगा जो सारे देशमें फैले हुए हैं। रत्ती-रत्ती या पाई-पाईका ही फायदा क्यो न हो, लेकिन सबका होगा, जैसे वृष्टिकी दे होती है। किसी नलकी धार कितनी ही मोटी और वेगवती क्यों न हो, वह एक ही जगह बड़े जोरसे गिरती है, सारी पृथ्वीको हरियालीसे सुशोभित करनेकी शक्ति उसमें नहीं है। वर्षा रिमझिम-रिमझिम पड़ती है, लेकिन वह सर्वत्र पड़ती है, मिट्टीके कण-कणको वह अलंकृत करती है। सूर्यका प्रकाश, हवा, वर्षा, ये सब परमात्माकी ऐसी महान् देनें हैं जो सबको मिलती हैं। खादीमे भी यही खूबी है। जो दैवी गुण, जो

व्यापकता वृष्टिमें है, वही खादीमें भी है।

हमारे शास्त्रकारोंने दानकी व्याख्याही "दानं संविभाग:"की है। दानका अर्थ है जो एक जगह इकठा हो उसे सर्वत्र सम्यक् बांट देना। यह क्रिया खादीके द्वारा ही सम्पन्न होती है। महाभारतमे अर्थशास्त्रका एक महान् नियम बताया गया है, व्यापक और सनातन अर्थशास्त्रके स्वरूपका वर्णन किया गया है। "दरिद्रान् भर कौन्तेय, मा प्रयच्छेश्वरे धनम्"—"जो महेश्वर है, श्रीमान् है, उसे दान न दो, बल्कि जो दरिद्री है, उसकी जरूरत पूरी करो।" श्रीमानोंके भरणकी जरूरत नहीं है, जो दरिद्री हैं उनके पेटके गड्ढेको पाटना है। उनको भर दो। यह सनातन सत्य है। आप जरीकी शाल या मिलका कपड़ा खरीदते हैं तो पैसा श्रीमान्की तिजोरीमे जाता है। जो गलेतक ठूंस चुका है और खाग्वाकर ऊब गया है, उसीको आपने फिर रबड़ी खिला दी। यह तो अधर्म हुआ, अन्याय हुआ। परन्तु यदि आपने खादी खरीद ली तो वह धेला-पैसा दरिद्रनारायणके घरमें जायगा। महाभारत और शास्त्रकार यही तो कहते है।

कोई-कोई कहते हैं, खादीमें कला नहीं है। उसमे तरह-तरहके रंग नहीं हैं। जो ऐसा कहते है, वे कलाका अर्थ ही नहीं समझते। मैं भी कलाकी कद्र करनेवालोंमेंसे हूं। एक बार मै अपने एक मित्रके घर गया। वह मित्र पैसे वाला था। उसने पचास रुपयेमे एक सुन्दर चित्र खरीदा था। उस चित्रके रंग वह मुझे दिखा रहा था। एक जगह बहुत ही सुहावना गुलाबी रग था। उसे दिखाकर वह बोला, "कैसा सुन्दर है! क्यो?"मैंने जवाब दिया,"ऊंऽऽहूँऽ"। उसने कहा, 'शायद आपको चित्रकला मे रुचि नहीं है?" मैंने उससे कहा, "भलेमानस, मुझे चित्रकलामे खूब रुचि है। सुन्दर चित्रोंके देखनेमें मुझे अपार आनन्द आता है। लेकिन सुन्दर चित्र ही नही हैं! मुझे चित्रकलासे प्रेम है, उच्च चित्रकलाकी मैं कद्र करता हूं। तुम्हारी अपेक्षा मुझे चित्रकला का ज्ञान अधिक है, मैं उसका मर्म समझता हू। इस चित्रका वह गुलाबी रंग सुन्दर है। लेकिन मै तुमसे दूसरी ही बात कहना चाहता हूं। इस चित्रके तुमने पचास रुपये दिये। जरा हरिजनो की बस्ती मे जाकर देखो। वहां तुम

फीके चेहरेवाले बच्चे पाओगे। रोज सवेरे जाओ, पंद्रह मिनट चलना पड़ेगा। रोज एक सेर दूध लेकर जाया करो। फिर एक महीने बाद उन लड़कोंके मुंह देखो। उन स्याह और फीके रंगवाले चेहरोंपर गुलाबी रंग आजायगा। खून की मात्रा बढ़नेसे चेहरेपर लाली आजायगी। अब तुम्हीं बतलाओ, इस निर्जीव चित्रमें जो गुलाबी रंग है वह श्रेष्ठ है या वह जो उन जीवित चित्रों में दिखाई देगा? वे बालक भी इस चित्र-जैसे सुन्दर देख पड़ेंगे! मेरे भाई, ये जीवित कलाके नमूने मरते जा रहे हैं। इन निर्जीव चित्रोंको लेकर उपासक होने की डींग मारते हो और इस महान् दैवी कलाको मिट्टी में मिलने देते हो!" इसी प्रकारका विचार यहां भी हो रहा है। खादी के द्वारा आप वास्तविक कलापूजक बनेंगे, क्योंकि दरिद्रनारायणके चेहरेपर ताजगी, सुर्खी ला सकेंगे। समाजमें जो भाई मरणोन्मुख है, उन्हें जिलाकर समाजमें दाखिल करा सकेंगे। इससे बढ़कर कला कौनसी हो सकती है?

खादी के द्वारा द्रव्यका वितरण होता है। वह अत्यन्त मोहताज, मेहनती और दरिद्र मजदूरोंको मिलता है। खादी द्वारा कलाकी—जीवित कलाकी उपासना होती है। ईश्वर के बनाये जीवित चित्रोंको न कोई धोता है, न पोंछता है और न सजाता है! उधर निर्जीव चित्रोंको सुन्दर-सुन्दर चौखटों से सजाते हैं, लेकिन इधर दरिद्र बालकोंके शरीरपर न कपड़े हैं, न पेट में अन्न। ये दिव्य चित्र खादीके द्वारा चमकेंगे।

इतना ही नहीं, खादीमें और भी कई बातें हैं। सबसे श्रेष्ठ दान कौनसा है? सभी धर्मों में बार बार एक ही बात कही गई है—गुप्तदान श्रेष्ठ है। बाइबिल में कहा है, "तुम्हारा दाहिना हाथ जो देता हो उसे बायां हाथ न जानने पाये।" सब धर्मग्रंथोंकी यही सिखावन है। खादी के द्वारा यह गुप्त-दान होता है। यही नहीं, बल्कि खुद दाता भी यह नहीं जानता कि मैं दान कर रहा और न लेनेवालोंको इसका पता होता है कि मैं दान ले रहा हूं। खरीदार कहता है, मैंने खादी खरीदी। जिस गरीबको पैसे मिलते हैं वह सोचता है, मैंने अपने श्रमका मेहनताना लिया। इसमें किसीका दबैल बनने की जरूरत नहीं, फिर भी इसमें दान तो है ही। दान तो वही है जो किसी

को दीन नहीं बनाता। दया या मेहरबानीसे जो हम देते हैं उसके कारण दूसरेकी गर्दन झुकाते हैं। समाजमें दो तरहके पाप हैं। एककी गर्दन जरूरतसे ज्यादा तनी हुई—घमण्डके कारण तनी हुई, और दूसरेकी जरूरतसे ज्यादा झुकी हुई—दीनतासे झुकी हुई होती है। ये दोनों पाप ही हैं। एक उन्मत्त और दूसरा दबैल तथा दुर्बल। गर्दन सीधी हो और लचीली भी हो। लेकिन न तनी हुई हो, न झुकी हुई। कर्मशून्य मनुष्यको बड़ी शानसे जब हम प्रत्यक्ष दान देते हैं तब हम तो अपनी शान और मिजाजमें मस्त होते हैं और वह मंगन दीन होता है। पाप दोनों तरफ है। खादीमें गुप्तदान सिद्ध होता है। हमारे दिलमें तो दानकी भावना भी नहीं होती, फिर भी दूसरेको मदद तो पहुँचती ही है। दान देनेवाले और लेनेवालेने एक दूसरेको देखा तक नहीं। लेकिन वास्तविक धर्मपर अमल हो रहा है।

आजकल हम गुप्तदानकी महिमा भूल गये हैं। यह विज्ञापनका युग है। मेरी मां मुझे वर्तमान गुप्तदानकी पाल बताया करती थी। लड्डूके अंदर चवन्नी या दुअन्नी रख दी जाती है लेकिन पंडितजीसे धीरेसे कह दिया जाता है, "जरा धीरे-धीरे चबाइए, अंदर चवन्नी है।" गुप्तदान देनेके लिए लड्डू में चवन्नी रख दी जाती है, लेकिन अगर पंडितजीको सतर्क न किया जाय तो बेचारेके दांतोंपर आफत आजाय। मतलब, फिर वह दान गुप्त तो नहीं रहेगा, किसी-न-किसी बहाने प्रकट होगा ही। आजकल समाज में दानी लोग अपना नाम खुदवाते हैं। पैसे देते और कहते हैं, "हमारा नाम दे दीजिए।" यह अधःपतन है। मुझसे एकबार एक श्रीमान् कहने लगे, "मुझे कुछ रुपये देने हैं।" मैंने कहा, "बहुत अच्छा, लाइए।" उन्होंने कहा, "उस इमारतमें मेरा नाम दे दीजिए।" मैंने जवाब दिया, "आपके रुपये मुझे नहीं चाहिए। इस प्रकारका दान लेनेमें मुझे आपकी आत्माका घोर अपमान करनेका पाप लगेगा। आप खुद अपनी आत्माका अपमान करनेपर उतारू हो गये हैं, पर मैं उसमें हाथ बंटाना नहीं चाहता। यह पाप है और आपको समझाना मेरा काम है।" इसमें आत्माका कितना बड़ा अपमान है! क्या आप अपनी इच्छाओंको, अपनी अनन्त आत्माको उन पत्थरोंमें कैद करना चाहते हैं? इसी-

लिए हमारे पूर्वजोंने गुप्तदानकी शिक्षा दी। आजकलके दान दरअसल दान ही नहीं हैं। आपने पैसे देकर इमारतपर अपना नाम खुदवाया। इसका मतलब तो यही हुआ कि आपने अपने हाथों अपनी कब्र बनवा ली, आपने खुद अपनी बड़ाई करवा ली। इसमें दान क्या किया? गुप्तदान बहुत ही पूजनीय वस्तु है। मैंने आपसे कहा कि खादी खरीदनेमें १०) खादी-खाते और ५) दान-धर्म खाते आप लिखें। यह जो सालभरमें दान-धर्म होगा वह गुप्त होगा। यह गुप्तदान देते हुए आपको यह गर्व न होगा कि मैं बड़ा उपकार कर रहा हूं, और जिस गरीबको दो-चार आने मिलेंगे उसे भी किसीके दरवाजेपर जाकर "बाबा, एक मुट्ठी" कहनेके बजाय, "मैं अपनी मेहनतका खाता हूँ", यह अभिमान होगा। यह गुप्तदानका महान् धर्म भी खादी खरीदनेसे सिद्ध होगा। दूसरे दानोंकी जरूरत ही न रहेगी। असल में वे दान ही नहीं है। दान वही है जो दूसरोंको स्वाभिमान सिखाये। खादी खरीदनेमे जो मदद पहुँचेगी, जो गुप्त-दान दिया जायगा, उसकी बदौलत मजदूरोंको देहातमें ही काम मिलेगा, उन्हें अपना घर-बार छोड़ना न पड़ेगा। देहातकी खुली हवामें वे रह सकेंगे। देहात छोड़कर शहरमें आनेपर वे कई बुरी आदतों और ऐबोंके शिकार बन जाते हैं और उनके चरित्र तथा स्वास्थ्यका नाश होता है, सो न होगा, देहातियोंके शरीर और मन नीरोग और निरालस रहेंगे। मतलब, खादीके द्वारा जो दान होता है, उससे समाजमें कितना कार्य हुआ, यह देखना चाहिए। आदमियोंके शरीर और हृदय—उनकी शारीरिक शक्ति और चरित्र शुद्ध रखनेका श्रेष्ठ उद्देश्य खादी द्वारा सफल होता है। इसीका नाम है बीज बोना। यही वास्त-विक दान है, गुप्तदान है, संविभाग है, जीती-जागती और खेलती हुई कला निर्माण करनेवाला दान है।

"दरिद्रान् भर कौन्तेय", "दानं संविभागः", इन सूत्रोंको आप न भूलें। आपके श्रेष्ठ पूर्वजोंकी यह दान-नीति है। जो अनीति और आलसको बढ़ाता है, वह दान ही नहीं है। वह तो अधर्म है। उस दानको देनेवाला और लेनेवाला दोनों पापके हिस्सेदार होते हैं। दोनों **"अवसि नरक-अधि-कारी"** हैं। इसलिए विवेककी आंख खुली रखकर दान कीजिए। यही कर्म-

कुशलता है। आप दया-धर्मका पालन करते हैं। हृदयके गुणकी तो रक्षा की, लेकिन बुद्धिके गुणका नाश किया। बुद्धि और हृदयका जब बिलगाव होता है तो अनर्थ होता है। हृदय कहता है "दया करो, दान करो"; लेकिन "दया किस प्रकार करें, दान कैसे करें", यह तो बुद्धि ही सिखाती है, विचार ही बतलाता है। जहां बुद्धि और हृदयका संयोग होता है, वही योग होता है। ज्ञान और बुद्धिकी एकताका ही नाम योग है। यही कर्म-कुशलता है। आज दान महज एक रूढ़ि है। जब आचारमेंसे विचार निकल जाता है तो निर्जीव रूढ़ि ही बाकी रह जाती है। इसलिए विवेकयुक्त दान-धर्म सीखिए। दान-जैसी कोई चीज स्वतत्र ही नही रह जानी चाहिए। इस प्रकारके गुप्तदान समाजके नित्यके व्यवहारमे हुआ करते हैं। खादीके द्वारा इसका पालन कैसे होता है, यह मैंने दिखा दिया। अगर आप इसे ठीक समझते हो तो इसपर अमल करें।

हमारा जन्म इस भारत-भूमिमे हुआ है। इस भूमिका प्रत्येक कण मेरे लिए पवित्र है। सैकड़ो साधु-सत इस भूमिमे उत्पन्न हुए और लोगोंको जगाते हुए विचरते रहे। इस धूलिको उनके चरणोंका स्पर्श हुआ होगा। जी चाहता है कि इस धूलिमे खूब लोटूं। "दुर्लभं भारते जन्म"। मेरा अहोभाग्य है कि मै इस भूमिमे पैदा हुआ। "मैं इस भारतवर्षमे उत्पन्न हुआ!" इस विचारसे ही कभी-कभी मेरी आखोसे आंसुओकी धारा बहने लगती है। आप ऐसी श्रेष्ठ भूमिकी संतान हैं। आप अपने-आपको धन्य मानें। आज जरा बुरे दिन आ गये हैं। क्लेश, कष्ट, अपमान सहने पड़ते हैं। लेकिन इस विपत्तिमे धीरज देनेवाला विचार भी तो पास ही है। हम सब आशासे काम करें, विवेकपूर्ण कर्म करे, अपने जीवनमें दर्शनका प्रवेश करे। मुझे विश्वास है कि शीघ्र ही इस देशके अच्छे दिन आयेंगे। लेकिन जरूरत है सुन्दर कृतिकी। वही कीजिए।

: ३० :

श्रमदेवकी उपासना

मनुष्यको प्रायः बाह्य अनुकरणकी आदत रहती है। आकाशके तारोंको देखकर जी ललचाता है, इसलिए हम अपने मंदिरोंमें कांचकी हांडियां और झाड़-फानूस टांगते हैं। आकाशके नक्षत्र तो आनंद देते हैं, पर ये हांडियां और झाड़ तो घरके अंदरकी स्वच्छ वायुको जलाते हैं। चार महीनेकी वर्षाके बाद धुले हुए आकाशके अनगिनत नक्षत्रोंको देखकर हमने दिवाली मनाना शुरू किया। छुटपनमें हम एक वृक्षके फलमें नारियलका तेल डालकर दिये जलाते थे। अब तो देहातमें भी भयानक धुआं उगलनेवाले मिट्टीके तेलके दिये जलाये जाते हैं। इसी तरह देहातमें हम कांग्रेसकी नकल उतारते हैं। आरंभ संगीतसे करते हैं; चाहे लोग उसे समझें न। यह फलाना गेट, वह ढिमका गेट, ऐसे दरवाजोंके नाम भी रख लेते हैं। लेकिन अनुकरण अंदरसे होना चाहिए।

मेरा मतलब यह है कि कांग्रेसमें राष्ट्रका वैभव नजर आना चाहिए, लेकिन खादी-यात्राके द्वारा तो उसका वैराग्य ही प्रकट होना चाहिए। हिमालयसे निकलनेवाली गंगा गंगोत्रीके पास छोटी और शुद्ध है। प्रयागकी गंगामें नदियां, नाले और नालियां मिलकर वह वैभवशालिनी बन गई है। दोनों स्थानोंमें वही पवित्र गंगाजी है। लेकिन गंगोत्रीकी गंगा यदि प्रयागकी गंगाके अनुकरणका दम भरे तो प्रयागकी विशालता उसे प्राप्त होनेके बजाय वह अस्वच्छ, अशुद्ध हो जायगी। कांग्रेसके समान बड़े-बड़े सम्मेलनोंमें राष्ट्रका वैभव और सिद्धि प्रकट होती है। छोटी-सी खादी-यात्रामें वैराग्य और शुद्धिके दर्शन होने चाहिएं। हम चाहे कितनी ही कोशिश क्यों न करें, कांग्रेसका वैभव देहातमें नहीं ला सकते। वहां तो देहातियोंके दिलकी ताकत और देहाती जीवन ही प्रकट होना चाहिए।

हम खादी-यात्रामें क्यों एकत्र होते हैं? व्याख्यान, खेल-कूद, राष्ट्र-गीत-

के लिए नहीं। चाहे जिस तीर्थ-स्थानको ले लीजिए। तीर्थ-स्थानमें मेला लगता है। और भी हजारों चीजें होती हैं। लेकिन यात्री वहां किस लिए जाते हैं? देव-दर्शनके लिए। कोई कहेगा, उस पत्थरमें क्या धरा है जी! लेकिन तीर्थ-यात्रीके लिए वह पत्थर नहीं है। उमरेड़ (नागपुरके पासकी एक तहसील) के पास रहनेवाला एक अछूत लड़का पंढरपुर जाता है। उसे कोई मंदिरमें जाने भी नहीं देता। लेकिन वह तो वहां देवताके दर्शनके लिए ही गया, हम उसे पागल भले ही कहें। पढरपुरके देवतासे कोई मतलब नहीं है। लेकिन वहां जो मेला लगता है उससे लाभ उठानेके लिए वहां हम उस मोकेपर खादी-ग्रामोद्योगकी प्रदर्शनीका आयोजन करते हैं। पर हमारा उद्देश्य सफल नहीं होता। चाहे शुद्ध उद्देश्यसे ही क्यों न हो, लेकिन यदि जनता को फासना ही है तो कम-से-कम मैं तो उसे सीधे अपना मतलब बताकर फासूंगा। खादी-ग्रामोद्योगका स्वतंत्र मंदिर हम क्यों नहीं बना सकते? दूसरे मेलोंसे लाभ उठानेकी जरूरत हमें क्यों पड़ती है?

खादी-यात्रामें हम खादी, ग्रामोद्योग और अहिंसाके प्रेमी क्यों एकत्र होते हैं? मुझ-जैसे कई ऐसे आदमी भी होंगे जिन्हें दो दिन रहनेकी फुरसत भी न हो। वे यहां किस खास चीजके लिए आयें? मेरा उत्तर है—सब मिलकर एकत्र कातनेके लिए। परिश्रम हमारा देवता है, उसके दर्शनोंके लिए। मेरी इच्छा गावां-सेवा-संघके सम्मेलनमें जानेकी थी। सिर्फ इसलिए कि वहाँ सामुदायिक शरीर-श्रमका कार्यक्रम होता है। खादी-यात्रामें यह गद्दी किस लिए? खादी और गादी (गद्दी) की लड़ाई है। अगर इस लड़ाईमें खादीकी जीत होनेवाली हो तो हमको खादी छोड़ देनी चाहिए। दुबले, पतले-कमजोर आदमियों और बूढ़ोंके लिए गादीका उपयोग भले ही होता रहे। हमें तो जमीन लीप-पोतकर मुख्य कार्यक्रम करना चाहिए। दूसरे ही कार्यक्रम मुख्य होने लगे तो यह तो ऐसा ही हुआ कि कोई किसान हमारे घर मेहमान आए, हम सुन्दर चौक पूरकर उसके सामने तरह-तरहकी चटनी और अचारोंके ढेर लगाकर थाली लगायें,

लेकिन उसमें रोटी रखें केवल दो तोले! वह बेचारा कहेगा कि मेरा इस तरह मजाक क्यों उड़ाते हो, भाई! इसी प्रकार देहाती कहेंगे, हम यहां मजदूरी करने आते हैं। क्या आप लोग हमारे साथ मजाक करने आते हैं?

दूसरे लोग हमसे पूछते हैं, तुम्हारा धर्म कैसा है? श्रीकृष्णकी लोग जय बोलते हैं। लेकिन सौमें निन्यानबे लोग गीताका नामतक नहीं जानते। मुझे इसका इतना दुःख नहीं है। गोपालकृष्णका नाम तो सब लोग जानते हैं न? उनकी जीवनी तो सब जानते हैं न? कृष्णकी महत्ता इसलिए नहीं है कि उन्होंने गीताका गायन किया। वह तो उनके जीवनके कारण है। द्वारिकाधीश होनेके बाद भी सारा राज-काज संभालकर श्रीकृष्ण कभी-कभी ग्वालोंके साथ रहने आया करते थे। गायें चराते थे, गोबर उठाते थे। इन्हें इस सारे कामसे इतना प्रेम था, इसीलिए आज भी लोगोंके दिलमें उनके लिए इतना प्रेम है और वे उनका स्मरण करते हैं। परिश्रमके प्रतिनिधि बनकर भगवान् श्रीकृष्ण जो कुछ करते थे वह हमें अपना प्रधान कार्य समझकर करना है। इसके अलावा और जो कुछ करना चाहें कीजिए; पर अनुकरणका अभिनय न हो।

महात्माजी बिलकुल तंग आगये हैं। अहिंसाके बलपर हमने इतनी मंजिल तय की। लेकिन अब तो हमारी सरकारको भी हिंदू-मुसलमानोंके दंगोंमें पुलिस और फौज बुलानी पड़ती है। अहिंसाके बलपर हम दंगे शांत नहीं करा सकते, यह एक तरहसे अहिंसाकी हार ही है। दुर्बलोंकी अहिंसा किस कामकी? कोई-कोई कहते हैं, इसमें मंत्रियोंका कुसूर है? मैं कहता हूं, तिनकेके बराबर भी कुसूर उनका नहीं है। लेकिन आखिर मंत्री बनकर भी क्या हम यही करते रहेंगे? अंग्रेजोंके आनेसे पहले भी तो हम यही करते थे—जब जरूरत होती, अंग्रेजोंकी सेनाका आवाहन करते थे। तब और अबमें भेद ही क्या रहा? गांधीके देशभक्त अनुयायी भी हमारी फौजकी शरण लेते हैं, इसकी अंग्रेजोंको कितनी खुशी हो रही होगी? अगर बिना फौजके काम ही न चलता हो तो अपनी फौज खड़ी कीजिए। आज

तो फौजमें चुन-चुनकर तामसी लोग भरती किये जाते हैं। कम-से-कम आप ऐसा तो न करेंगे। आप देशकी हालत जाननेवाले लोगोको फौजमे भरती करेंगे।

महात्माजीने अपने दो लेखोमें यह बात साफ करदी है कि अहिंसा वीरोकी होनी चाहिए, दुर्बलोकी कदापि नहीं। जब शस्त्रकी धार शरीरमे लगती है तभी वीरताकी परीक्षा होती है। आप अहिंसाका दम भरेगे और मरनेसे डरेगे तो ऐन मौकेपर आपको पता चलेगा कि आप कायर है।

काग्रेसके ३१ लाख सदस्य बन गये हैं। लेकिन संख्याको लेकर हम क्या करें? रोज जिन्हे एक ही जून रोटी नसीब होती है ऐसे सब लोगोको सदस्य बनालें तो पैंतीस करोड़ सदस्य बन जायगे। दोनो जून खानेवालोको बनाना हो तो कम-से-कम चार-पाच करोड़को इनमेसे कम कर देना पड़ेगा। सिंधिया-के पास साठ हजार फौज थी। होलकरके पास चालीस हजार। लेकिन वेल-जलीने पांच हजार फौजसे उनको हरा दिया। क्यो? जब वेलजलीने चढ़ाई की तो सिंधियाके दस हजार जवान पाखाने गये थे और दस हजार सो रहे थे। इस तरहके तमाशबीन किस कामके? और फिर अहिंसाकी लड़ाईमे ऐसे आदमियोसे तो काम नहीं चलेगा। बड़के पेड़के नीचे जो लोग आराम करने आते है, वे उसकी छायासे लाभ उठाते हैं; लेकिन उनमेसे कोई उसके काम नही आएगा।

मंत्रि-पद स्वीकार कर लेनेसे लाभ चाहे जो हुआ हो, लेकिन एक बड़ा भारी नुकसान हुआ। लोगोकी स्वावलंबनकी हिम्मत घटी हुई-सी दीख पड़ती है। उधर वह बूढ़ा (गाधी) बिल्कुल परेशान हो रहा है। संयुक्तप्रांतकी असेंबलीमें दंगोके बारेमे बहस होती है और मुसलमानोकी ओरसे शिकायत आती है कि मंत्री जनताकी अच्छी तरह रक्षा नहीं कर सके। अगर हमें हिंसाका ही मार्ग लेना था तो हमने ये अठारह साल अपने अच्छे-से-अच्छे लोगोको अहिंसाकी शिक्षा देनेमें बितानेकी बेवकूफी क्यो की? जर्मनी और इटलीकी तरह इन नौजवानोंको

भी फौजी शिक्षा दी गई होती ? इसलिए गांधीजी कहते हैं कि मेरा मार्ग यदि बहादुरोंके मार्गके रूपमें जचता हो तो उसे स्वीकार करो, वरना छोड़ दो ।

पौनारमें मैं मजदूरोंके साथ उठता बैठता हू । मैंने उनसे कहा, तुम लोग अपनी मजदूरी इकट्ठी करके आपसमे बराबर बराबर बाट लो । आपको शायद सुनकर अचरज होगा, पर मजदूरोंने कहा, "कोई हर्ज नहीं ।" लेकिन इस प्रस्तावपर अमल कैसे हो ? उनसे अलग रहकर । जब मैं भी उनमे शामिल हो जाऊगा तब हम सब मिलकर उसपर अमल करेंगे । आपको अपने हजार आदोलन छोडकर इस सच्ची राजनीतिकी ओर ध्यान देना चाहिए । मजदूरोकी मजदूरीकी शक्ति प्रकट होनी चाहिए । आप गरीबोके हाथमें सत्ता देना चाहते हैं न ? तब तो उसके हाथोका खूब उपयोग होने दीजिए । बचपनमे हम एक श्लोक पढा करते थे—'कराग्रे वसते लक्ष्मी'—अगुलियों-के अग्रभागमे लक्ष्मी निवास करती है । तो फिर बताइए, क्या इन अगुलियोंका ठीक ठीक उपयोग होना आवश्यक नही है ? क्या उनमें उत्तम कला कौशल आना जरूरी नही है ? हम विदेशी वस्त्र बहिष्कार कमेटी बनाते हैं । उसमें गद्दी, कलम, कागज और दूसरी हजार चीजें होती हैं । लेकिन चरखा, धुनकी नदारद । गाधी सेवा-सघमे हर महीने हजार गज कातनेका नियम है । लेकिन शिकायत यह है कि उसका भी भला भाति पालन नहीं होता । ये स्वराज्य प्राप्त करनेके लक्षण नहीं हैं । फिर तो आपका स्वराज्य सपनेकी चीज है । जबतक हम मजदूरोके साथ परिश्रम करनेके लिए तैयार न होंगे तबतक उनका हमारा 'एका' कैसे होगा ? जबतक हम उनमें घुल मिल न जाय तबतक हमारी अहिंसाकी शक्ति प्रकट न होगी ।

कताईकी मजदूरीकी दर बढ़ाई जानेवाली है, इससे कुछ लोगोंको शिकायत है । कुछ लोग कहते हैं कि मजदूरी चाहे जितनी बढ़ाए, लेकिन खादी सस्ती रहे । अब इस दलीलके सामने अर्थशास्त्र क्या अपना सिर पीटे ! कताईकी दर बढ़ाकर खादी सस्ती कैसे करें ? शायद इसका भी मेल बैठानेमें सफलता मिल जाय । लेकिन उसके लिए यत्र, तोप, हवाई जहाज आदिकी

सहायता लेनी पड़ेगी। शहरमें रहनेवाले जमनालालजी यदि कहें कि खादी सस्ती मिलनी चाहिए तो भले ही कहें, मगर देहातके लोग भी जब यही कहने लगते हैं तो बड़ा आश्चर्य होता है। आप कहते हैं कि मजदूरोको जिंदा रहनेके लायक सुविधा हो। अंग्रेज भी तो दिलोजानसे यही चाहते हैं कि हम जियें और जन्म भर उनकी मजदूरी करें।

खादीका व्यवस्थापक यदि २०) वेतन लेता है तो त्यागी समझा जाता है। उसे निजी कामके लिए या बीमारीके कारण सवेतन छुट्टी मिल सकती है। लेकिन उसके मातहत काम करनेवालेको डेढ आना मजदूरी मिलती है। निजी कामके लिए या बीमारीकी छुट्टियां नदारद। हा, बिना वेतनके चाहे जितनी छुट्टियां लेनेकी सुविधा है। इन बेचारे मजदूरोंको अगर खादी-यात्रामें आना हो तो अपनी रोजी त्याग करके आना पड़ता है और इसके अलावा यहाका खर्च भी देना पड़ता है। शायद तुलना कड़वी लगे। लेकिन कड़वे-मीठेका सवाल नहीं है, सवाल तो है सच और झूठका।

कुछ लोग कहते है, समाजवादियोंने मजदूरोंको फुसलाकर अपने पक्षमे कर लिया है, इसलिए हमे मजदूरोमे जाकर उन्हे समाजवादियोके चंगुलसे छुड़ाना चाहिए। लेकिन आप मजदूरोंमे किस ढगसे प्रवेश करना चाहते हैं? अगर अहिंसक ढगसे उनमे शामिल होना है तब तो व्यवस्थापक और मजदूरमे आज जो अतर है वह घटता ही जाना चाहिए। व्यवस्थापकोंको मजदूरोंके समान बनना चाहिए। मजदूरोका वेतन बढ़ाना चाहिए। "मजदूरोका वेतन बढ़ाकर उनका और एक विशेष वर्ग तुम निर्माण करोगे", ऐसा आक्षेप भी कुछ लोग करते हैं। तो फिर मुझपर यह भी आक्षेप क्यो न किया जाय कि मैं देशकी सेवा करनेवाले देश-सेवकोका ही एक खास वर्ग बनाने जा रहा हूं? मजदूरीकी दर बढ़ाये बिना मैं मजदूरोंके साथ एकरूप किस तरह हो सकता हूं? उनका और मेरा 'एका' कैसे हो सकता है?

किशोरलालभाईका आग्रह था कि शिक्षकोंको कम-से-कम २५) मासिक वेतन मिलना चाहिए। पौनारके मास्टरोको १६) माहवार मिलता है। मजदूरो-को उनसे ईर्ष्या होती है। तीन साल पहले मेरे प्राणपखेरू उड़ चुके थे, सो

कताईके भाव बढ़ते ही फिर इस शरीरमें लौट आये। बेचारोंको दस-दस घंटे मेहनत करनी पड़ती है, तब कहीं बड़ी मुश्किलसे चार आने पैसे मिलते हैं। और यहां तो कम-से-कम खर्च छः आनेका है। भला बताइए, मैं उनमें कैसे शामिल हो सकता हूं ?

आज तो श्रमकी प्रतिष्ठा केवल वाङ्मय—साहित्य—में है। इससे कोई फायदा नहीं। श्रमका अधिक मूल्य देना ही उसकी वास्तविक प्रतिष्ठा बढ़ाना है और इसका आरंभ हम आप सबको मिलकर करना है।

यहां इतने खादीधारी आते हैं, लेकिन सब अपना-अपना चरखा या तकली नहीं लाते। यहां तकली भूलकर आना, मानो नाईका अपना उस्तरा भूल आना है ! हम यहां खिलवाड़के लिए नहीं आते। हमारी खादी-यात्रामें वैराग्य का वैभव और श्रमकी शक्ति प्रकट होनी चाहिए।

: ३१ :

राष्ट्रीय अर्थशास्त्र

आजतक खादीका कार्य हमने श्रद्धासे किया है। अब श्रद्धाके साथ-साथ विचारपूर्वक करनेका समय आ गया है। खादीवाले ही यह समय लाये हैं, क्योंकि उन्होंने ही खादीकी दर बढ़ाई है।

सन् १६३०में हमने सत्रह आने गज खरीदी थी। मगर सस्ती करनेके इरादेसे दर कम करते करते चार आने गज पड़ने लगी। चारों ओर "यंत्र-युग" होनेके कारण कार्यकर्त्ताओंने मिलके भाव दृष्टिमें रखकर धीरे-धीरे कुशलतापूर्वक उसे सस्ता किया। इस हेतुकी सिद्धिके लिए जहां गरीबी थी उन स्थानोंमें कम-से-कम मजदूरी देकर खादी उत्पत्तिका कार्य चलाना पड़ा। लेनेवालोंने भी ऐसी खादी इसलिए ली कि वह सस्ती थी। मध्यमवर्गके लोग कहने लगे—अब खादीका इस्तेमाल किया जा सकता है, क्योंकि उसके भाव मिलके कपड़ेके बराबर हो गये हैं, वह टिकाऊ भी काफी है और महंगी भी

नहीं है। अर्थात्, 'थुड्मुली और घनदुधी' इस कहावतके अनुसार खादी-रूपी गाय लोगोंको चाहिए थी। उन्हें वह वैसी मिल गई और वे मानने लगे कि खादी इस्तेमाल करके हम महान् देश-सेवा कर रहे हैं।

यह बात तो गांधीजीने सामने रखी है कि अब मजदूरोंको अधिक मजदूरी दी जाय, उन्हें रोजाना आठ आने मिलने चाहिएं। क्या यह भी लालबुझक्कड़की बकवास है या उनकी बुद्धि सठिया गई है? या उनके कहनेमें कुछ सार भी है? इसपर हमें विचार करना चाहिए। हम अभी साठ के अंदर ही है, संसारसे अभी ऊब नहीं गये हैं, दुनियामें अभी हमें रहना है। यदि यह विचार हमें नहीं जचते तो यह समझकर हम इन्हें छोड़ सकते हैं कि यह खब्ती लोगोंकी सनक है। सच बात तो यह है कि जबसे खादीकी मजदूरी बढ़ी तबसे मुझमें मानो नई जान आ गई। पहले भी मैं यही काम करता था। मैं व्यवस्थित कातनेवाला हूं। उत्तम पूनी और निर्दोष चरखा काममें लाता हूं। कातते समय मेरा सूत टूटता नहीं, यह आपने अभी देखा ही है। मैं श्रद्धापूर्वक, ध्यानपूर्वक कातता हूं। आठ घंटे इस तरह काम करनेपर भी मेरी मजदूरी सवा दो आने पड़ती थी। रीढ़में दर्द होने लगता था। लगातार आठ घंटे काम करता था, मौनपूर्वक कातता था, एक बार पालथी जमाई कि चार घंटे उसी आसनमें कातता रहता। तो भी मैं सवा दो आने ही कमा सकता था। सारे राष्ट्रमें इसका प्रचार कैसे हो, इसका विचार मैं करता रहता था। यह मजदूरी बढ़ गई इससे मुझे आनन्द हुआ, कारण मैं भी एक मजदूर ही हूं। "घायल की गति घायल जाने।"

मेरे हाथके सूतकी धोती पांच रुपयेकी हो, तब भी धनी लोग बारह रुपयेमें खरीदनेको तैयार हैं। कहते हैं, "यह आपके सूतकी है, इसलिए हम इसे लेते हैं।" ऐसा क्यों? मैं मजदूरोंका प्रतिनिधि हूं। जो मजदूरी मुझे देते हो वही उन्हें भी दो। ऐसी परिस्थितिमें मुझे यही चिंता हो गई है कि इतनी सस्ती खादी कैसे जीवित रह सकेगी। अब मेरी यह चिंता दूर हो गई है। पहले कातनेवाले चिंतित रहते थे कि खादी कैसे टिकेगी। आज वैसी ही चिंता पहननेवालोंको मालूम हो रही है।

संसारमें तीन प्रकारके मनुष्य होते हैं—(१) काश्तकार, (२) दूसरे धंधे करनेवाले और (३) कुछ भी धंधा न करनेवाले, जैसे बूढ़े, रोगी, बच्चे, बेकार वगैरह। अर्थशास्त्रका—सच्चे अर्थशास्त्रका यह नियम है कि इन तीनों वर्गोंमें जो ईमानदार हैं उन सबको पेटभर-अन्न, वस्त्र और आश्रयकी आवश्यक सुविधा होनी ही चाहिए। कुटुम्ब भी इसी तत्त्वपर चलता है। जैसा कुटुम्बमे वैसा ही समस्त राष्ट्रमें होना चाहिए। इसीका नाम है "राष्ट्रीय अर्थशास्त्र"—"सच्चा अर्थशास्त्र।" इस अर्थशास्त्रमें सब ईमानदार आदमियोंके लिए पूरी सुविधा होनी चाहिए। आलसी यानी गैर-ईमानदार लोगोंके पोषणका भार राष्ट्रके ऊपर नहीं हो सकता।

इंग्लैंड-सरीखे देशोंमें (जो यंत्र-सामग्रीसे संपन्न हैं) दूसरे देशोंकी संपत्ति बहकर आती है, सब बाजार खुले हुए हैं, नाना प्रकारकी सुविधाएं प्राप्त हैं, तो भी वहा बेकारी है। ऐसा क्यों? इसका कारण है यंत्र। इस बेकारीके कारण प्रतिवर्ष बेकारोंको भिक्षा (डोल) देनी पडती है। ऐसे २०-२५ लाख बेकारोंको मजदूरी न देकर अन्न देना पड़ता है। आप कहते हैं कि भिखारियोंको काम किये बगैर अन्न न दो, पर वहा अन्नदानका रिवाज चालू है। इन लोगोंको काम दीजिए। इन्हे काम देना कर्त्तव्य है। 'काम दो, नही तो खानेको दो', यह नीति इग्लैंडमें है तो सारे संसारमें क्यो न हो? यहां भी उसे लागू कीजिए। पर यहा लागू करनेपर काम न देकर १॥ करोड़ लोगोंको अन्न देना पड़ेगा। यहा कम से-कम १॥ करोड़ मनुष्य ऐसे निकलेंगे। यह मैं हिसाब देखकर कह रहा हूं। इतने लोगोंको अन्न कैसे दिया जा सकेगा? नहीं दिया जा सकता—मनमे ठान लिया जाय तो भी नहीं दिया जा सकता। उधर, चूंकि इग्लैंडवाले दूसरे देशोंकी संपत्ति लूट लाते हैं, इसलिए वे ऐसा कर सकते हैं। ईमानदारीसे राज करना हो तो ऐसा करना संभव नहीं हो सकता।

हिंदुस्तान कृषि-प्रधान देश है, तो भी यहां ऐसा कोई धंधा नहीं जो कृषिके साथ-साथ किया जा सके। जिस देशमें केवल खेती होती है, वह राष्ट्र दुर्बल समझा जाता है। यहा हिंदुस्तानमें तो ७५ प्रतिशतसे भी ज्यादा

काश्तकार हैं। यहांकी जमीनपर कम-से-कम दस हजार बरससे काश्तकी जाती है। अमेरिका हिंदुस्तानसे तिगुना बड़ा मुल्क है, पर आबादी वहांकी सिर्फ १२ करोड़ है। जमीनकी का केवल ४०० वर्ष पूर्वसे हो रही है। इसलिए वहाकी जमीन उपजाऊ है और वह देश समृद्ध है। अपने राष्ट्रके काश्तकारोके हाथमे और भी धधे दिये जायं तभी वह सम्हल सकेगा। काश्तकार, यानी (१) खेती करनेवाला, (२) गोपालन करनेवाला और (३) धुनकर कातनेवाला। काश्तकारकी यह व्याख्या की जाय तभी हिंदुस्तानमे काश्तकारी टिक सकेगी।

साराश, यह वर्त्तमान परिपाटी बदलनी ही पड़ेगी। बहुत लोग दुःख प्रकट करते है कि खादीका प्रचार जितना होना चाहिए उतना नहीं होता। इसमे दुःख नही आनद है। खादी बीडीके बडल अथवा लिप्टनकी चाय नहीं है। खादी एक विचार है। आग लगानेको कहे तो देर नहीं लगती, पर यदि गाव बसानेको कहे तो इसमे कितना समय लगेगा, इसका भी विचार कीजिए। खादी निर्माणका काम है, विध्वंसका नही। यह विचार अंग्रेजोके विचारका शत्रु है। तब खादीकी प्रगति धीमो , इसका दुःख नहीं, यह तो सद्भाग्य ही है। पहले अपना राज था तब खादी थी ही; पर उस खादीमें और आजकी खादीमे अंतर है। आजकी खादीमें जो विचार है, वह उस समय नहीं था। आज हम खादी पहनते हैं इसके क्या मानी है, यह हमे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। आजकी खादीका अर्थ है सारे संसारमे चलते हुए प्रवाहके विरुद्ध जाना। यह पानीके प्रवाहके ऊपर चढ़ना है। इसलिए जब हम यह बहुत-सा प्रतिकूल प्रवाह—प्रतिकूल समय जीत सकेंगे, तभी खादी आगे बढ़ सकेगी। "इस प्रतिकूल समयका संहार करनेवाली मैं हूं", यह वह कह सकेगी। "कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः" ऐसा अपना विराट्-रूप वह दिखलायेगी। इसलिए खादीकी यदि मिलके कपड़ेसे तुलना की गई तो समझ लीजिए कि वह मिट गई—मर गई। इसके विपरीत उसे ऐसा कहना चाहिए कि "मैं मिलकी तुलना में सस्ती नहीं, महंगी हूं। मैं बड़े मोलकी हूं। जो-जो विचारशील मनुष्य हैं, मैं उन्हे अलंकृत करती हूं। मैं

सिर्फ शरीर ढापने भरको नहीं आई, मैं तो आपका मन हरण करने आई हूँ।" ऐसी खादी यकायक कैसे प्रसूत होगी ? वह धीरे धीरे ही आगे जायगी और जायगी तो पक्के तौरसे जायगी। खादीके प्रचलित विचारोंकी विरोधिनी होनेके कारण उसे पहननेवालोंकी गणना पागलोंमें होगी।

मैंने अभी जो तीन वर्ग बताये हैं—काश्तकार, अन्य धंधा करनेवाले और जिनके पास धंधा नहीं—उन सभी ईमानदार मनुष्योंको हमें अन्न देना है। इसे करनेके लिए तीन शर्तें हैं। एक तो सर्वप्रथम काश्तकारकी व्याख्या बदलिए। (१) खेती, (२) गो रक्षण और (३) कातनेका काम करनेवाले, ये सब काश्तकार हैं—काश्तकारकी ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। अन्न, वस्त्र, बैल, गाय, दूध इन वस्तुओंके विषयमें काश्तकारको स्वावलंबी होना चाहिए। यह एक शर्त हुई। दूसरी शर्त यह है कि जो वस्तुएं काश्तकार तैयार करें, वे सब दूसरोंको महंगी खरीदनी चाहिए। तीसरी बात यह है कि इनके सिवाय बाकीकी चीजें जो काश्तकारको लेनी हों वे उसे सस्ती मिलनी चाहिए। अन्न, वस्त्र, दूध ये वस्तुएं महंगी, पर घड़ी, गिलास जैसी वस्तुएं सस्ती होनी चाहिए। वास्तवमें दूध महंगा होना चाहिए जो है सस्ता, और गिलास सस्ते होने चाहिए जो हैं महंगे। यह आजकी स्थिति है। आपको यह विचार रूढ़ करना चाहिए कि अच्छे से अच्छे गिलास सस्ते और मध्यम दूध भी महंगा होना चाहिए। इस प्रकारका अर्थशास्त्र आपको तैयार करना चाहिए। खादी, दूध और अनाज सस्ता होते हुए क्या राष्ट्र सुखी हो सकेगा ? इने-गिने कुछ ही नौकरोंको नियमित रूपसे अच्छी तनखाह मिलती है, उनकी बात छोड़िए। जिस राष्ट्रमें ७५ प्रतिशत काश्तकार हों, उसमें यदि ये वस्तुएं सस्ती हुई तो वह राष्ट्र कैसे सुखी होगा ? उसे सुखी बनानेके लिए खादी, दूध, अनाज, ये काश्तकारोंकी चीजें महंगी और बाकीकी चीजें सस्ती होनी चाहिए।

मुझसे लोग कहते हैं, "तुम्हारे ये सब विचार प्रतिगामी हैं। इस बीसवीं सदीमें तुम गांधीवाले लोग यंत्र विरोध कर रहे हो।" पर मैं कहता हूँ कि क्या आप हमारे मनकी बात जानते हैं ? हम सब यंत्र विरोधी हैं, यह आपने कैसे

समझ लिया ? मैं कहता हूं कि हम यंत्रवाले ही हैं। एकदम आप हमें समझ सकें यह बात इतनी सरल नहीं है। हम तो आपको भी हजम कर जानेवाले हैं। मैं कहता हूं कि आपने यंत्रोंका आविष्कार किया है न ? हमें भी वे मान्य हैं। काश्तकारों की वस्तुएं छोड़कर बाकीकी वस्तुएं आप सस्ती कीजिए। अपनी यंत्रविद्या काश्तकारोंके धधोंके अलावा दूसरे धधोंपर चलाइए और वे सारी वस्तुएं सस्ती होने दीजिए। पर आज होता है उल्टा। काश्तकारोंकी वस्तुएं सस्ती, पर इतने यंत्र होते हुए भी यंत्रकी सारी वस्तुएं महंगी! मैं खादीवाला हूं, तो भी यह नहीं कहता कि चकमकसे आग पैदा कर लो। मुझे भी दियासलाई चाहिए। काश्तकारोंको एक पैसेमें पांच डिबिया क्यों नहीं देते ? आप कहते हैं कि हमने बिजली तैयार की और वह गांव वालोंको चाहिए। तो दीजिए न आध आनेमें महीने भर! आप खुशीसे यंत्र निकालिए, पर उनका वैसा उपयोग होना चाहिए जैसा मैं कहता हूं। केले चार आने दर्जन होने चाहिएं और आपके यंत्रोंकी बनी वस्तुएं पैसे-दो पैसेमें मिलनी चाहिए। मक्खन दो रुपये सेर आपको काश्तकारोंसे खरीदना चाहिए। यदि आप कहें कि हमें यह जंचता नहीं, तो काश्तकार भी कह दें कि हम अपनी चीजें खाते हैं, हमारे खानेके बाद बचेगी तो आपको देंगे। मुझे बताइए, कौन-सा काश्तकार इसका विरोध करेगा ?

इसलिए यह खादीका विचार समझ लेना चाहिए। बहुतोंके सामने यह समस्या है कि खादी महंगी हुई तो क्या होगा ? पर किनका ? किसानोंको खादी खरीदनी नहीं, बेचनी है। इसलिए उनके लिए खादी महंगी नहीं, वह उन्हें दूसरोंको महंगी बेचनी है।

: ३२ :

'वृक्षशाखा'-न्याय

मेरा यह बराबर अनुभव रहा है कि शहरातियोंकी अपेक्षा देहाती अधिक

बुद्धिमान होते हैं। शहराती जड़ हैं। जड़ सम्पत्तिकी सोहबतसे जड़ बन गये हैं।
मैं आज देहातोंकी जागृतिके बारेमें दो शब्द कहूंगा। आजकल किसानो-के सगठनके लिए किसान सभाए कायम की जा रही हैं। लोग मुझसे पूछते हैं, "किसान सभाए बन रही हैं, यह देखकर तुम्हें कैसा लगता है?" मैं कहता हूं, "क्या मैं इतना जड हू कि किसान-सभाओंकी स्थापनासे खुश न होऊ?" किसान सभाए बननी चाहिए और गाव गावमें बननी चाहिए। लेकिन इसके सबधमें दो बातोपर ध्यान देना चाहिए। डाली जबतक पेड़से जुड़ी रहेगी तभीतक उसे पोषण मिलेगा। अलग होते ही वह तो सूख ही जायगी, साथ ही पेड़को भी नुकसान पहुचायेगी। पचास साल पहले लगाये हुए जिस वृक्षकी छायामें यह सभा हो रही है, उसे छोड़कर किसान सभाए यदि अलग हो जाय तो इससे उनका नुकसान तो होगा ही, साथ ही पेड़की भी हानि होगी। इसलिए किसानोका सारा सगठन काग्रेससे अविरुद्धही होना चाहिए। 'काग्रेस-के अनुकूल'से यह मतलब नही है कि वे सिर्फ अपने नाममे कही 'काग्रेस' शब्द लगा दे। आजकल 'स्वराज्य' शब्द का महत्त्व है। इसलिए कई सस्थाए उसे अपने नामके साथ जोड़ती हैं—जैसे 'वर्णाश्रम स्वराज्य सघ'। मेरा मतलब इस तरहकी अनुकूलतासे नहीं है। 'काग्रेसके अनुकूल'से मतलब यह है कि उनकी वृत्ति और दृष्टि अपने आदोलनमे काग्रेसकी शक्ति बढ़ानेकी होनी चाहिए।

काग्रेसके हाथोंमे राजशक्ति आ गई है, इसका क्या अर्थ है? दहीमेसे सारा मक्खन निकाल लेनेपर सरकारने मट्ठेका चौथाई हिस्सा हमारे लिए रख दिया है। यही चार आना मट्ठा ग्यारहो प्रातोमे बाट दिया है। उनमेंसे हमारी हुकूमत सात प्रातोंमें है। यानी ढाई आने मट्ठा हमारे पल्ले पड़ा है। आप पूछेंगे कि फिर हमने यह स्थिति क्यो मजूर की? मेरा जवाब है, "पञ्चर लगानेके लिए।" भारतके बड़ बड़े नेताओंने निश्चय किया कि ब्रिटिश-सत्ता-की धरनमें यह जो जरा-सी दरार पड़ गई है, उसमें पञ्चर लगा दी जाये। अगर इस उद्योगमें पञ्चरके ही टूट जानेका अदेशा होता तो यह स्थिति कदापि स्वीकार न की गई होती। लेकिन उन्हें विश्वास है कि उनकी पञ्चर

फौलादकी बनी हुई है। पर याद रहे, केवल पच्चर लगा देनेसे ही काम नहा चलता। उसपर घनकी चोटें भी मारनी पड़ती हैं। हमारे आंदोलन उस पच्चरपर लगाई जानेवाली चोटें हैं।

इसलिए हमें आंदोलन बड़ी कुशलतासे करना चाहिए। जिन्हें हमने अपना मत देकर भेजा है, उनके काममें-हमारे आंदोलनसे मदद ही पहुंचे, इसकी सावधानी हमें रखनी चाहिए। हमारी मांगें ऐसी हो और ऐसे ढंगसे पेश की जाय कि हमारे प्रतिनिधि सोने तो न पायें, लेकिन उनका बल भी किसी तरह कम न होने पाये।

मैं क्रोधी आदमी हूं। क्रोधी और सच्चे आदमीकी जीभ अक्सर खुजलाती रहती है। तुकारामका यही हाल था। उन्होंने "मेरा तो मुंह खुजलाता है," कहकर भगवान्को खूब खरी-खरी सुनाईं। मैं यह नहीं कहता कि किसान-सभावाले कम जोरसे बोलें, लेकिन तुकारामके समान उनका जोर प्रेमका हो। तब उनका जोर उनके प्रेमका लक्षण माना जायगा। बिना प्रेमका जोर दिखानेका परिणाम यह होगा कि जिनसे हम सब एक होकर लड़ना चाहते हैं, वे तो सुरक्षित रहेंगे और जिन्हें हमने चुनकर भेजा है, उनसे हम लड़ते रहेंगे।

लगन चाहे कितनी ही हो, लेकिन अगर बुद्धि चली गई तो सब कुछ चला गया। बोलनेमें हमेशा विवेक रहे। हम जो कुछ कहें, उसके सबूत और अंक पेश करें। स्वराज्य लड्डू तो है, लेकिन मेथीका लड्डू है। उसमें जिम्मेदारीका कडुआपन है। हम स्वराज्य क्यों चाहते हैं? इसलिए कि अड़चनोंको दूर करनेमें अपनी बुद्धि लगानेका मौका हमें मिले। आज हमें कुछ भी नहीं करना पड़ता, इसलिए हम जड़ हो गये हैं। कल अंग्रेज यहांसे अपनी फौज हटालें तो हम मुसीबतमें पड़ जायंगे; लेकिन हम यह चाहते हैं, क्योंकि उस हालतमें हमें अपनी अक्ल लगानेका मौका मिलेगा। हमें जो 'मऊगिल' भात दिया जा रहा है, वह हम नहीं चाहते। हमें तो जरा करारी रोटी चाहिए। बुद्धिमत्ताके जो-जो क्षेत्र आज हमारे लिए बिल्कुल बंद हैं, वे थोड़े-बहुत खोल दिये गये हैं। इसलिए स्वराज्यकी जिम्मेदारीका खयाल

रखकर किसानोंको अपने आंदोलन सोच-विचारकर समझदारीके साथ चलाने चाहिएं। अपने मुंहसे निकलनेवाले शब्दोंको उन्हें तौल-तौलकर कहना चाहिए। "ब्रह्मवाक्य" के समान "किसान-वाक्य" भी भाषाका मुहावरा बन जाना चाहिए। सबका यह विश्वास हो जाना चाहिए कि किसानोंका वाक्य कभी असत्य या गैर-जिम्मेदार हो ही नहीं सकता। आज भी सरकारका हाथ कम मजबूत नहीं है, वह खासा मजबूत है। लेकिन उसे पकड़नेकी हिम्मत हमने लोगोंके बलपर की है। इसलिए लोगोंके आंदोलन जोशसे भरे हुए, उत्साहवर्धक, किंतु प्रेमयुक्त और विवेक तथा सत्यके अनुकूल और अपने प्रतिनिधियोंकी ताकत बढ़ानेकी दृष्टिसे होने चाहिएं।

समर्थ रामदासने कहा था कि आंदोलनमें सामर्थ्य है। लेकिन हम समझ बैठे हैं कि बकवासमें ही बल है। आजकलकी हमारी सभाएं निरी बकवास होती हैं। एक समय था जब कांग्रेस सरकारके सामने केवल शिकायतें पेश करनेवाली संस्था थी। उस समय वह भी शोभा देता था।

जिमि बालक करि तोतरि बाता।
सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता॥

लेकिन बड़े होनेपर? चालीस सालके बाद भी अगर हम फिर 'यह दीजिए', 'वह दीजिए', 'यह नहीं हुआ', 'वह नहीं हुआ', आदि शिकायतें सरकारके सामने पेश करते रहें, तो तब और अबकी हालतमें अंतर ही क्या रहा? 'यह दीजिए', 'वह दीजिए'—लेकिन 'दीजिए' कहांसे? असली शक्ति तो ग्राम-संगठन है। जनताकी शक्ति बढ़नी चाहिए। रो-धोकर भीख मांगनेसे थोड़े ही वह बढ़ेगी? हिंदुस्तानकी आर्थिक तबाही अंग्रेजोंके व्यापारके कारण हुई है। जबतक देहातकी शक्ति नहीं बढ़ेगी, हिंदुस्तान संपन्न कैसे होगा? 'लगान माफ करो, लगान माफ करो', कहकर अपने दुखड़े रोनेसे क्या होगा? कांग्रेसकी बदौलत हमें आंदोलन करनेके लिए आधार, आश्वासन और सुयोग प्राप्त हुआ है। इससे अधिक कुछ नहीं हुआ है। लेकिन हम तो यही समझने लगे हैं कि जैसे हम मंजिलपर ही पहुंच गये हों। बन-चराई माफ हो गई, राजाजीको खादीके लिए दो लाख रुपये मिल गये।

हमने समझा बस अब तो मंजिल आ ही गई। इसीको मैं बकवास कहता हूं। खादीके लिए दो लाख ! अजी, दो सौ करोड़ भी काफी न होंगे। सारे देशको हमें खादीमय बनाना है। दो लाखसे क्या होता है ! लेकिन यह काम कोई भी सरकार नहीं कर सकती। यह तो जनताको ही करना चाहिए।

हमारे देहाती भाई शहरातियोंसे अच्छी तरह लड़ते भी तो नहीं। देहाती चीजोंके भाव बहुत गिर गये हैं। शहरी चीजें महंगी बिकती हैं। देहातियोंका चाहिए कि वे शहराती दूकानदारसे कहें, "घड़ीके दाम बीस रुपये बताते हो, दो रुपयेमें दे दो। मेरा मक्खन छः आने सेर मांगते हो ! तीन रुपये सेर दूंगा। इसके लिए मुझे इतनी मेहनत और खर्च जो करना पड़ा है।"

देहातोंको सहयोगसे पूंजी जुटाकर भांति-भांतिके उद्योग शुरू करने चाहिएं। इसके लिए कोई रुकावट नहीं है। सरकारसे आपको उचित संरक्षण मिल सकता है। यदि हम ऐसा कुछ करेंगे तो हमारी हलचलें 'आंदोलन'-के नामकी अधिकारिणी होंगी। वरना सारी हलचलें निरी बकवास और हड़बड़ाहट ही सिद्ध होंगी। हरएक गावको एक छोटा-सा राष्ट्र समझकर वहांकी संपत्ति बढ़ानेका सामुदायिक दृष्टिसे विचार होना चाहिए। गावके आयात और निर्यातपर गावकी चुंगी होनी चाहिए। जब हम ऐसा करेंगे तभी हम अपनी सरकारको बल प्रदान कर सकेंगे, वरना हमारे आंदोलन फिजूल हैं।

: ३३ :

राजनीति या स्वराज्यनीति

एक भिखारी सपनेमें राजगद्दीपर बैठा। उसे यह कठिनाई हुई कि अब राज कैसे चलाऊं ! बेचारा सोचने लगा, "प्रधानमंत्रीसे मैं क्या कहूं ?

सेनापति मेरी कैसे सुनेगा ?" आखिर भिखारीका ही तो दिमाग ठहरा। वह कोई निर्णय न कर सकता था। कुछ देरके बाद उसकी नींद ही खुल गई और सारे प्रश्न हल हो गये।

हमारे साथ भी ऐसा ही कुछ होने जा रहा है। यह मानकर कि हिंदुस्तानको स्वराज्य मिल चुका है, लोगोंने विचार करना शुरू कर दिया। उन्हें एकदम विश्वरूप दर्शन हो गया। "बाह्य आक्रमणका क्या करें, भीतरी बगावत और अराजकताका सामना कैसे करें ?" एकने कहा, "हिंसा किसी काम नहीं आयेगी।" दूसरेने कहा, "अहिंसाके लिए हमारी तैयारी नहीं है।" तीसरा बोल उठा, "कुछ अहिंसा, कुछ हिंसा, जो कुछ बन पड़ेगा, करेंगे। फिलहाल हम गांधीजीको मुक्त कर देंगे। सरकारके साथ तो हमारा अहिंसात्मक सहयोग है ही, लेकिन देखा जायगा। अगर ईश्वरकी कृपासे सरकारके दिलमें सुबुद्धि उपजी और उसने स्वराज्यका शब्दोदक (दानका शाब्दिक संकल्प) हमारे हाथमें दे दिया तो हम उसके युद्ध यंत्रकी सहायता करेंगे। इग्लैंडके पास शस्त्र सामग्री है और हमारे पास जन-बल है। दोनोंको मिलानेसे बहुत सा सवाल हल हो जायगा।" तात्पर्य यह कि हमने अभी स्वराज्य हासिल नहीं किया है, इसलिए विचारोंकी ये उलझनें पैदा हो रही हैं। अगर हमने अहिंसाकी शक्तिसे स्वराज्य प्राप्त कर लिया होता या प्राप्त करनेवाले हो—और कार्य-समिति तो साफ-साफ कह रही है कि स्वराज्य प्राप्त करनेके लिए हमारे पास अहिंसाके सिवा दूसरी शक्ति नहीं है—तो उसी शक्ति द्वारा आजकी सारी समस्याएं कैसे हल की जा सकती हैं, यह हमें सूझता या सूझेगा। आज तो झंडा दृढ़ करनेका सवाल है। यह कदम-ब-कदम अर्थात् क्रमशः ही होती है। यही ज्ञानकी महिमा है।

लेकिन आज क्या हो रहा है ? हमारे नेता गिड़गिड़ाकर सरकारसे यह विनती करते हुए देख पड़ते हैं कि "गांधीजीका त्याग करना हमारे लिए आसान नहीं था। लेकिन इतना कठिन त्याग करके भी सहयोगका हाथ आपकी तरफ बढ़ाया है। सरकार, हमें स्वराज्यका वचन दे दें और हमारा सहयोग ले लें।"

इस विचित्र घटनापर ज्यों-ज्यों विचार करता हूं त्यों-त्यों विचारको अधिका-

धिक व्यथा होती है। मान लीजिए, सरकारने यह विनती स्वीकार कर ली और सरकारके युद्ध-यंत्रमें कांग्रेस दाखिल हो गई। तो जिस क्षण वह स्वराज्यका वचन प्राप्त करती है, उसी क्षण स्वराज्य के अर्थ को वह सैकड़ों वर्ष दूर ढकेल देती है। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो रही है।

जिसने हिंसात्मक युद्धमें योग देनेका निश्चय कर लिया, उसने शुरू-शुरूमें न्याय-अन्यायका जो कुछ थोड़ा-बहुत विचार किया हो सो किया हो; लेकिन एक बार युद्ध-चक्रमें दाखिल हो जानेके बाद फिर तो न्याय-अन्यायकी अपेक्षा बलाबलका विचार ही मुख्य हो जाता है।

हिंसाका शस्त्र स्वीकार करनेके बाद बलाबलका ही विचार मुख्य है। हमारे पक्षमें अगर कुछ न्याय हो तो ठीक है, न हो तो न सही। हिंदुस्तान या दूसरा कोई भी देश अगर आजके यांत्रिक संसारकी हिंसामें शामिल होगा तो उसे न्याय और लोकतंत्रकी भाषातक छोड़ देनी होगी।

ब्रिटेनसे आज हिंसात्मक सहयोग करनेके लिए तैयार होनेका अर्थ केवल अहिंसाका परित्याग ही नहीं है, बल्कि हिंसाके गहरे पानीमें एकदम उतर जाना है। "हम हिंदुस्तानके बाहर आदमी नहीं भेजेंगे", यह कहना मुमकिन नहीं; क्योंकि हिंदुस्तानका बचाव-जैसी कोई अलग चीज ही नहीं रह जाती। अफ्रीकाका किनारा, भूमध्यसागर आदि सबको हिंदुस्तानकी ही सरहदें मानना पड़ेगा। दूसरा कोई चारा नहीं है।

अर्थात्, कांग्रेसकी बीस सालकी कमाई और उसकी बदौलत संसारमें पैदा हुई आशा तो हवा हो ही गई, लेकिन साथ-साथ हिंदुस्तानकी हजारों वर्षकी कमाई भी अकारथ गई। हिंदुस्तानका जितना इतिहास ज्ञात है, उसमें हिंदुस्तानी अपने देशके बाहर स्वेच्छापूर्वक संहारके लिए गये हो, ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है। यह भी संभव नहीं कि हम सिर्फ बचावके लिए हिंसा करें, हमलेके लिए नहीं। कोई भी मर्यादा नहीं रह सकती। 'अमर्यादा-पुरुषोत्तम' ही हमारे इष्टदेव होंगे, और हम उनकी पूर्ण उपासना करेंगे तभी सफल होंगे।

और फिर संसारभरसे दुश्मनी मोल लेनेका साहस हम किस बिरतेपर

कर सकते हैं ? आज जितनी दूरतक दिखाई देता है, उतनेका विचार किया जाय तो यही कहना होगा कि इंग्लैंडके बलपर। इस बातपर भी विचार करना जरूरी है। जिस राष्ट्रमें जमीनका औसत फी आदमी एक एकड़ है उस राष्ट्रके लिए—अगर वह दूसरे राष्ट्रोंको लूटनेका खयाल छोड़ दे तो—चाहे वह कितना ही जोर क्यों न मारे, फौजपर ज्यादा खर्च करना नामुमकिन है। और सौभाग्यसे हिंदुस्तानकी आर्थिक परिस्थितिमें कितनी ही उन्नति क्यों न हो, उसके लिए यह बात संभव भी नहीं है।

"हिंदुस्तानके लिए बहुत बड़ी फौज रखना मुमकिन नहीं, इसलिए उसे बिना फौजका रास्ता ही आसान पड़ेगा"—यह बात जवाहरलालजी भी कभी-कभी कहा करते हैं। इस तरहका राष्ट्र स्वाश्रयी (अपने भरोसे) रहकर शत्रु-निर्माण-कलाका प्रयोग नहीं कर सकता। फलतः उसे पराश्रित होकर (दूसरोंके भरोसे ही) उस कलाके प्रयोग करने होंगे। इसका अर्थ क्या होगा ?—इंग्लैंडसे आज हम निरे स्वराज्यका ही नहीं, बल्कि बिल्कुल पक्के—पूर्ण स्वराज्यका वचन ले लेते हैं और वह उसे सप्रेम, सधन्यवाद और सब्याज (ब्याज सहित) लौटा देते हैं। भगवान्ने अर्जुनको गीताका उपदेश देनेके बाद उससे कहा, "तू अपनी इच्छासे जो कुछ करना हो सो कर"। और फिर कहा, "सब कुछ छोड़कर मेरी शरण आ"। दोनोंका सम्मिलित अर्थ यह है कि "तू अपनी खुशीसे मेरी शरण आ"। ईश्वरके लिए भक्तको यही करना चाहिए। इंग्लैंडके लिए हमें भी वही करना होगा।

नैष्ठिक अहिंसाको ताकपर रखकर सरकारसे हिंसात्मक सहयोग—अर्थात् सरकार और दूसरे हिंसानिष्ठ लोगोंके हिंसात्मक सहयोगकी स्वीकृति—की नीतिकी यह सारी निष्पत्ति ध्यानमें लानेपर यही कहना पड़ता है कि शस्त्रास्त्र और यादवोंकी सेना लेकर कृष्णको छोड़नेवाले अज्ञ दुर्योधनका ही अनुकरण हम कर रहे हैं। इसके बदले अगर कांग्रेस अपनी अहिंसा मजबूत करे, अनायास मिलनेवाले स्वराज्यकी आशाका ही नहीं, बल्कि कल्पनाका भी त्याग कर दे, अपने सहयोगका अर्थ नैतिक सहयोग घोषित कर दे, और स्वराज्यका संबंध वर्तमान युद्ध से न जोड़कर जिस प्रकार मिट्टीसे श्रीगणेशजीकी मूर्तिका

निर्माण किया जाता है, उसी प्रकार अपनी शक्तिसे यथासभव अपने अभ्यंतर-से स्वराज्यका निर्माण करनेकी कारीगरी अख्तियार कर ले, तो क्या यह सब प्रकारसे उत्तम नहीं है ?

ऐसा स्वराज्य किसीके टालनेसे टल नही सकता । सूर्य भगवान्के समान वह सहज ही उदित होगा। सूर्य तो पूर्व दिशामें उदय होता है, लेकिन उसका प्रकाश और गरमी ठेठ पश्चिमतक सभी दिशाओंमे फैलती है । स्वराज्यके विषयमें भी यही होगा । उसका जन्म तो हिंदुस्तानमें होगा, लेकिन उसकी बदौलत सारी दुनियाके लिए मुक्तिका रास्ता खुल जायगा । उसका शत्रु पैदा होनेसे पहले ही मर जायगा । भीतरी दगे-फसादकी संभावना मिटाकर ही उस स्वराज्यका आविर्भाव हुआ होगा, इसलिए भीतरी कलहके निवारणका सवाल सामने आयेगा ही नहीं। यही हाल बाह्यआक्रमणका भी होगा । या अगर यह मान भी लिया जाय कि इन दो समस्याओंके अवशेष कायम रहेंगे तो भी उनको हल करना आज जितना कठिन मालूम होता है, उतना नही मालूम होगा। यह स्वराज्य कितनी ही देरमें क्यो न मिले तो भी वही जल्दी-से-जल्दी मिलेगा; क्योंकि वही 'स्वराज्य' होगा और वही चिरजीवी होगा।

लेकिन कुछ लोग यह शंका करेंगे कि हिंदुस्तानको क्या सचमुच अहिंसासे स्वराज्य मिलेगा ? यहा इस शंकाका विचार करनेकी जरूरत नहीं है; क्योकि यह शंका ही नहीं है। यह तो निष्क्रिय लोगोका निश्चय है । वे यह जानते हैं कि हिंदुस्तानके लिए हिंसासे स्वराज्य प्राप्त करना संभव नहीं और उनका यह विश्वास है कि अहिंसासे कभी किसीको स्वराज्य मिल ही नहीं सकता । इसलिए निष्क्रिय रहकर आलोचनात्मक साहित्यकी वृद्धि करना उनका निश्चित कार्यक्रम है । तब उनके पीछे पड़नेसे क्या फायदा ? इसके अलावा, कांग्रेस आजतक यह मानती है कि संगठित अहिंसा ही स्वराज्यका एकमात्र व्यवहार्य साधन है, और ऐसे विचारवाले लोगोके ही लिए यह लेख है ।

लेकिन कांग्रेसवालोंके दिमागमे कुछ दूसरी तरहकी गड़बड़ी पैदा हो रही है । एक व्यवस्थित सरकारका सामना करके स्वराज्य प्राप्त करना और एका-

एक होनेवाले बाहरी हमले या अंदरूनी लड़ाई-झगड़ोंका निवारण करना, दोनों उन्हें बिल्कुल भिन्न कोटिकी समस्याएं प्रतीत होती हैं। उनके सामने यह जटिल समस्या है कि पहली बात तो हम अपनी टूटी-फूटी अहिंसासे साध सकते हैं, लेकिन दूसरी बात बलवानोंकी नैष्ठिक अहिंसाके बिना सध ही नहीं सकती। वह नैष्ठिक अहिंसा हम कहांसे लायें?

मेरे नम्र विचारमें यह एक भ्रम है और इसका निवारण होना नितांत आवश्यक है। जिस प्रकार स्वराज्य-प्राप्ति नैष्ठिक अहिंसाके बिना असंभव है उसी प्रकार स्वराज्य-रक्षण भी नैष्ठिक अहिंसाके बिना असंभव है। अबतक दुर्बलोंकी अहिंसाका एक प्रयोग हमने किया। उसकी बदौलत थोड़ी-बहुत सत्ता मिली या मिलनेका आभास हुआ। मैं 'आभास' कहता हूं, कारण, काग्रेसके शासन-कालमें जो-जो विचित्र घटनाएं घटीं, उन्हें हम जानते ही हैं। फिर भी, उसे आभास कहनेके बदले यही मान लिया जाय कि हमने थोड़ी-बहुत सत्ता प्राप्त कर ली। परंतु इस सत्ताभास अथवा इस अल्पसत्तामें और जिसे हम स्वराज्य कहते हैं और जिसके पीछे 'पू' विशेषण लगाए बिना हमारी आत्माको कल नहीं पड़ती, उस हमारे उद्घोषित ध्येयमें जमीन-आसमानका अंतर है। यह अंतर चाहे जैसी मिलावटी और अव्यवस्थित अहिंसासे नहीं काटा जा सकता। उसके लिए बलवानोंकी पराक्रमी अहिंसाकी ही जरूरत होगी, यह समझ लेनेका समय अब आ गया है। जितनी जल्दी हमारी समझमें यह बात आ जायगी, उतनी ही जल्दी हमारे विचारोंकी ये गुत्थियां सुलझ जायंगी।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, स्वराज्य गणेशजीकी वह मूर्ति है जिसका निर्माण हमें मिट्टीमेंसे करना है। नदीके प्रवाहके साथ बहकर आनेवाला वह नर्मदा-गणेश नहीं है। हमारे कुछ बुजुर्गों और बड़े-बूढ़ोंकी यह समझ हो गई है कि हमने जो कुछ थोड़ा-बहुत अहिंसाका प्रदर्शन किया है, उससे मानो भगवान् प्रसन्न हो गए हैं और उन प्रसन्न भगवान्ने हमारे संकट-मोचनके लिए यह युद्ध भेज दिया है। शुद्ध भावसे किये हुए हमारे उस अल्पमत प्रयत्न और भगवान्की इस अपरंपार कृपाके संयोगसे अब

हमारा कार्य जल्दी ही सिद्ध होनेवाला है। इस कल्पनाके भंवरजालमें पड़नेके कारण हम इस गफलतमें है कि हमारी कमजोर अहिंसा भी हमें स्वराज्यमें बरबस ढकेलकर ही रहेगी। लेकिन इसके विपरीत अनुभव हुआ और इग्लैंडने सचमुच हमें स्वराज्य दे भी दिया तो भी वास्तवमें स्वराज्य नहीं मिलता, अपनी यह राय मै ऊपर पेश कर चुका हूं।

तब यह सवाल उठता है कि "क्या आप व्यवस्थित सरकारसे लोहा लेना और बाह्य आक्रमण तथा भीतरी अराजकताका प्रतीकार करना, इन दो बातोंमें कोई फर्क ही नहीं करते?" उत्तर यह है कि "करते हैं और नहीं भी करते।" एक क्षेत्रमे दुर्बल अहिंसासे काम चल जायगा और दूसरे क्षेत्रमें बलवती अहिंसाकी आवश्यकता होगी, इस तरहका कोई फर्क हम नहीं करते। यदि स्वराज्यका अर्थ पूर्ण-स्वराज्य हो तो दोनो क्षेत्रोंमें बलवती अहिंसाकी ही आवश्यकता होगी। लेकिन व्यवस्थित सरकारसे टक्कर लेनेमें उसकी जो कसौटी होगी, उससे भिन्न प्रकारकी कसौटी दूसरे क्षेत्रोंके लिए होगी, यह फर्क हम करते हैं। उसमें भी मैं भिन्न प्रकारकी कसौटी कहता हूं। अधिक कड़ी कसौटी भी निश्चित रूपसे नहीं कहता और न 'कम कड़ी' ही कहता हूं।

इसपर कुछ लोग कहते हैं, "तुम्हारी सारी बातें मंजूर हैं, लेकिन व्यक्ति-की हैसियतसे। नैष्ठिक अहिंसामें हमारी श्रद्धा है। हम उसकी तैयारी भी करेंगे। लेकिन हम जनताके प्रतिनिधि हैं। इसलिए हमारे सिर्फ पैर ही नहीं लड़-खड़ाते, दिमाग भी डगमगाने लगता है। क्या आजकी स्थितिमें जनताके लिए अहिंसा हितकर होगी? हमारी रायमें न होगी।"

इसके जवाबमें दूसरे कहते हैं, "अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटीसे फैसला करा लें।"

मैं कहता हूं, "यह सारी विचार-धाराही अनुपयुक्त है। आम जनता— जिसकी गिनती चालीस करोड़से की जाती है; वह जनता—हिंदुस्तानकी जनता-जैसी प्राचीन और अनुभवी जनता—अनेक मानव-समूहसे बनी हुई जनता— बिना किसीसे पूछे-ताछे अहिंसक मान ली जानी चाहिए। उसे बरबस हिंसाके

दलमें ढकेलना या उसकी अहिंसकताका सबूत 'अखिल भारतीय' नाम धारण करनेवाली कांग्रेस-कमेटीसे मांगना नाहक समय नष्ट करना है। हिंदुस्तानकी जनता अहिंसक, अहिंसक और अहिंसक ही है। वह 'अहिंसावादी' नहीं है। यह 'वाद' तो उसके नामपर विद्वान् सेवकोंको खड़ा करना है। वह 'अहिंसा-कारी' भी नहीं है। यह कार्य उसकी तरफसे उसके सत्याग्रही सेवकोंको करना है। उन दो को मिलाकर उससे 'क्या तू अहिंसावादी है'? और 'क्या तू अहिंसाका' ? ऐसा ऊटपटांग प्रश्न नहीं पूछना चाहिए। अगर व्यक्तिगत रूपसे अहिंसामें हमारी श्रद्धा हो तो अहिंसासे शक्तिका निर्माण करना हमारा कर्त्तव्य है। इस कार्यमें जनताका उत्तम आशीर्वाद सदा हमारे साथ है। अहिंसा-जैसे प्रश्नके विषयमें जनताके मत-परिज्ञानकी जरूरत नहीं, उसका स्वभाव-परिज्ञान काफी है।

इसपर फिर कुछ लोग कहते हैं, "यह भी माना, लेकिन हमारा प्रश्न तो तुरंतका है। अगर अहिंसाका आग्रह लेकर बैठ जायंगे तो हम तैयारी तो करेंगे, शक्ति भी प्राप्त करेंगे और यथासंभव सिद्धि भी प्राप्त कर लेंगे, लेकिन वर्तमान कालमें तो हम बिल्कुल ही एक कोनेमें पड़े रहेंगे। दूसरे आगे आयंगे। सरकार उनकी सहायता ले लेगी और राजनीतिमें हम पीछे छूट जायंगे।"

कोई हर्ज नहीं। हमें राजकारण (राजनीति) से सरोकार ही नहीं। हमें तो स्वराज्यकरण (स्वराज्य-नीति) से मतलब है। जैसा कि गांधीजीने लिखा है, "जो आगे बढ़ेंगे, वे भी तो हमारे भाई-बंद ही होंगे।" मैं तो कहता हूं कि अपनी इस पवित्र स्वराज्य-साधनामें ईश्वरसे हम यही प्रार्थना करें कि वह हमें चाहे जिस कोनेमें फेंक दे, लेकिन भ्रम या मोहमें न डाले। हम स्वराज्य-साधक हैं, हमें राज्य-कामनाका स्पर्श न हो।

'न त्वहं कामये राज्यम्।'

[२२-७-४०

: ३४ :

सेवा व्यक्तिकी ; भक्ति समाजकी

बीस बरससे मैंने कुछ किया है तो सार्वजनिक काम ही किया है। जब विद्यार्थी अवस्थामें था तब भी मेरी प्रवृत्ति सार्वजनिक सेवाकी ही थी। यों कह सकते हैं कि जीवनमें मैंने सिवा सार्वजनिक सेवाके न कुछ किया है, न करने की इच्छा ही है। पर मेरा आशय है कि जिस प्रकार सार्वजनिक सेवा और लोगोंने की है वैसी मैंने नहीं की। सबेरे एक भाईने मुझसे पूछा, "आप कांग्रेसमें नहीं जायगे क्या ?" मैंने कहा कि, "मैं तो कांग्रेसमें कभी नहीं गया।" सेवाकी मेरी पद्धति और प्रवृत्ति कांग्रेसमें जाना और वहां बहस करना नहीं रही है। इसका महत्त्व मैं जानता हू सही, पर यह मेरे लिए नहीं है। मैं कांग्रेसकी प्रवृत्तियोंसे अनभिज्ञ नहीं हू। विचार करनेवाले भाई तो बहुत हैं। मैं तो उन लोगोंमें हू जो मूकसेवा करना चाहते हैं। फिर भी मेरी सेवा उतनी मूक नही हो सकी जितनी कि मैं चाहता हूं। मेरा सेवाका उद्देश्य भक्ति-भाव है। भक्ति-भावसे ही मैं सेवा करता हूं और २० सालसे प्रत्यक्ष सेवा कर रहा हूं। प्रचार अभीतक न किया है और न आगे करनेकी संभावना ही है।

मैंने एक सूत्र-सा बना लिया है, "सेवा व्यक्तिकी ; भक्ति समाजकी।" व्यक्तिकी भक्तिमें आसक्ति बढ़ती है, इसलिए भक्ति समाजकी करनी चाहिए। सेवा समाजकी करना चाहें तो कुछ भी नहीं कर सकते। समाज तो एक कल्पनामात्र है। कल्पनाकी हम सेवा नहीं कर सकते। माताकी सेवा करनेवाला लड़का दुनियाभरकी सेवा करता है, यह मेरी धारणा है। सेवा प्रत्यक्ष वस्तुकी ही हो सकती है, अप्रत्यक्ष वस्तुकी नहीं। समाज अप्रत्यक्ष, अव्यक्त या निर्गुण वस्तु है। सेवा तो वह है जो परमात्मातक पहुंचे। आज-कल सेवाकी कुछ अनोखी-सी पद्धति देखनेमें आती है। सेवाके लिए हम विशाल-क्षेत्र चाहते हैं। पर अगर असली सेवा करनी है,सेवामय बन जाना

है, अपनेको सेवामें खपा देना है, तो किसी देहातमें चले जाइए। मुझसे एक भाईने कहा कि "बुद्धिशाली लोगोंसे आप कहते हैं कि देहातमें चले जाइए। विशाल बुद्धि के विस्तारके लिए उतना लंबा-चौड़ा क्षेत्र वहां कहां है?" मैंने कहा कि, "ऊंचाई तो है, अनंत आकाश तो है? वह लंबा सफर नहीं कर कर सकता। पर ऊंचा सफर तो कर सकता है, गहरा तो जा सकता है?" संत इतने ऊंचे चढ़ते थे कि उसका कोई हिसाब नहीं मिलता। कोई बड़े-से बड़ा विज्ञानवेत्ता भी आकाशकी ऊंचाई मालूम नहीं कर सकता। देहातमें हम लंबा-चौड़ा नहीं, पर ऊंचा सफर कर सकते हैं। वहा ऊंचे-से-ऊंचे चढ़नेका अवसर है। ऊंची या गहरी सेवा वहां खूब हो सकती है। हमारी वह एकाग्र-सेवा प्रथम श्रेणीकी सेवा हो जायगी और फलदायक भी होगी।

राष्ट्रके सारे प्रश्न देहातके व्यवहारमें आ जाते हैं। जितना समाजशास्त्र राष्ट्रमें है, उतना एक कुटुंबमें भी आ जाता है, देहातमें तो है ही। समाज शास्त्रके अध्ययनके लिए गांवमें काफी गुंजाइश है। मैं तो इस विश्वासको बुद्धिका अभाव ही मानूंगा कि प्रौढ़-विवाह प्रचलित होनेसे भारतवर्ष सुधर गया और बाल-विवाहसे बिगड़ गया था। प्रौढ़ विवाहमें भी अक्सर वैवाहिक आनंद देखनेमें नहीं आता और बाल-विवाहके भी ऐसे उदाहरण देखे गये हैं जिनमें पति-पत्नी सुख-शांतिसे रहते हैं। विवाह-संस्थामें संयमकी पवित्र भावना कैसे आये, यह मसला हमने हल कर लिया तो सब कुछ कर लिया। विवाहका उद्देश्य ही यह है। इसी प्रकार हिन्दुस्तानकी राजनीतिका नमूना भी देहातमें पूरा-पूरा मिल जाता है। एक देहातकी भी जनताको हमने आत्म-निर्भर कर दिया तो बहुत बड़ा काम कर दिया। वहांके अर्थशास्त्रको कुछ व्यवस्थित कर दिया तो बहुत कुछ हो गया। मुझे आशा है कि देहाती भाई-बहनोंके बीचमें रहकर आप उनके साथ एकरस हो जायंगे। हां, वहां जाकर हमें उनके साथ दरिद्र-नारायण बनना है, पर 'बेवकूफ-नारायण' नहीं। अपनी बुद्धिका उनके लिए उपयोग करना है, निरहंकार बनना है। हम यह न समझें कि वे सब निरे बेवकूफ ही होते हैं। भारतके देहातोंका अनुभव और देशोंकी तरह चंद सदियोंका नहीं, कम-से-कम २० हजार वर्षका है। वहां जो

अनुभव है, उससे हमें लाभ उठाना है। ज्ञानभंडारकी तरह द्रव्य-भंडार भी वहींसे पैदा करना है और पूरी तरहसे निरहंकार बनकर उसमें प्रवेश करना है।

एक प्रश्न यह है कि सवर्ण हिन्दू समझते हैं कि ये सुधारक तो गांवको बिगाड़ रहे हैं, सवर्णोंके साथ हमारा उतना संबंध नहीं जितना कि हरिजनोंके साथ है। सवर्णों को अपनी प्रवृत्तिकी ओर खींचने और उनकी शंका दूर करनेके विषयमें सोचा क्या गया है?

अस्पृश्यता-निवारणका काम हमे दो प्रकारसे करना है। एक तो हरिजनोंकी आर्थिक अवस्था और उनकी मनोवृत्तिमें सुधार करके और दूसरे हिंदू-धर्मकी शुद्धि करके, अर्थात् उसको उसके असली रूपमें लाकर। अस्पृश्यता माननेवाले सब दुर्जन हैं, यह हम न मानें। वे अज्ञानमें हैं, ऐसा मान सकते हैं। वे दुर्जन या दुष्ट बुद्धि नहीं हैं, यह तो उनके विचारोंकी संकीर्णता है। प्लेटोने कहा था कि "सिवा ग्रीक लोगोंके मेरे ग्रथोंका अध्ययन और कोई न करे।" इसका यह अर्थ हुआ कि ग्रीक ही सर्वश्रेष्ठ हैं। मनुष्यकी आत्मा व्यापक है, पर अव्यापकता उसमें रह ही जाती है। आखिर मनुष्यकी आत्मा एक देहके अंदर बसी हुई है। इसलिए सनातनियोंके प्रति खूब प्रेमभाव होना चाहिए। हमे उनका विरोध नहीं करना चाहिए। हम तो वहां बैठकर चुपचाप सेवा करें। हरिजनोंके साथ-साथ जहां जब अवसर मिले, सवर्णोंकी भी सेवा करें। एक भाई हरिजनोंका स्पर्श नहीं करता, पर वह दयालु है। हम उसके पास जाय, उसकी दयालुताका लाभ उठायें। उसकी मर्यादाको समझकर उससे बात करें। थोड़े दिनमें उसका हृदय शुद्ध हो जायगा, उसके अंतरका अंधकार दूर हो जायगा। सूर्यकी तरह हमारी सेवाका प्रकाश स्वतः पहुंच जायगा। हमारे प्रकाशमें हमारा विश्वास होना चाहिए। प्रकाश और अंधकारकी लड़ाई तो एक क्षणमें ही खत्म हो जाती है। लेकिन तरीका हमारा अहिंसाका हो, प्रेमका हो। मेरी मर्यादा यह है कि मैं दरवाजा ढकेलकर अंदर नहीं चला जाऊंगा। मैं तो सूर्यकी किरणोंका अनुकरण करूंगा। दीवारमें, छप्परमें या किवाड़में कहीं जरा-सा भी छिद्र होता है तो किरणें चुपचाप अंदर

चली जाती हैं। यही दृष्टि हमें रखनी चाहिए। हममें जो विचार हैं, वह प्रकाश है, यह मानना चाहिए। किसी गुफाका एक लाख वर्षका भी अंधकार एक क्षणमें ही प्रकाशसे दूर हो जायगा। लेकिन यह होगा अहिंसाके ही तरीकेसे। सनातनियोंको गालियां देना तो अहिंसाका तरीका नहीं है। हमें मुंहसे खूब तौल-तौलकर शब्द निकालने चाहिएं। हमारी वाणीकी कटुता यदि चली गई तो उनका हृदय पलट जायगा। ऐसी लड़ाई आजकी नहीं, बहुत पुरानी है। संतोंका जीवन अपने विरोधियोंके साथ झगड़नेमें ही बीता। पर उनके झगड़नेका तरीका प्रेमका था। जिस भगवान्ने हमें बुद्धि दी है, उसीने हमारे प्रति-पक्षियोंको भी दी है। आजसे १५—२० वर्ष पहले हम भी तो उन्हींकी तरह अस्पृश्यता मानते थे। हमारे संतोंने तो आत्मविश्वासके साथ काम किया है। वाद-विवादमें पड़ना हमारा काम नहीं। हम तो सेवा करते-करते ही खत्म हो जायं। हमारे प्रचार-कार्यका सेवा ही विशेष साधन है। दूसरोंके दोष बताने और अपने विचार सामने रखनेका मोह हमें छोड़ देना चाहिए। मां अपने बच्चेके दोष थोड़े ही बताती है, वह तो उसके ऊपर प्रेमकी वर्षा करती है, उसके बाद फिर कहीं दोष बतलाती है। असर ऐसी ही प्रेममयी सेवाका होता है।

: ३५ :
ग्राम-सेवा और ग्राम-धर्म

जब हम सेवा करनेका उद्देश्य लेकर देहातमें जाते हैं तब हमें यह नहीं सूझता कि कार्यका आरंभ किस प्रकार करना चाहिए। हम शहरोंमें रहनेके आदी हो गये हैं। देहातकी सेवा करनेकी इच्छा ही हमारा मूलधन—हमारी पूंजी होती है। अब सवाल यह खड़ा हो जाता है कि इतनी थोड़ी पूंजीसे व्यापार किस तरह शुरू करें। मेरी सलाह तो यह है कि हमें देहातमें जाकर व्यक्तियों; की सेवा करनेकी तरफ अपना ध्यान रखना चाहिए, न कि सारे

समाजकी तरफ। सारे समाजके समीप पहुँचना संभव ही नहीं है। रणभूमिमें लड़नेवाले सिपाहीसे अगर हम पूछें कि किसके साथ लड़ता है तो वह कहेगा "शत्रुके साथ।" लेकिन लड़ते समय वह अपना निशाना किसी एक ही व्यक्तिपर लगाता है। ठीक इसी प्रकार हमें भी सेवा-कार्य करना होगा। समाज अव्यक्त है, परंतु व्यक्ति व्यक्त और स्पष्ट है। उसकी सेवा हम कर सकते हैं। डाक्टरके पास जितने रोगी जाते हैं, उन सबको वह दवा देता है, मगर हरएक रोगीका वह खयाल नहीं रखता। प्रोफेसर सारे क्लासको पढ़ाता है, पर हरएक विद्यार्थीका वह ध्यान नहीं रखता। ऐसी सेवासे बहुत लाभ नहीं हो सकता। यह डाक्टर जब कुछ रोगियोंके व्यक्तिगत संपर्कमें आयेगा, या प्रोफेसर जब कुछ चुने हुए विद्यार्थियोंपर ही विशेष ध्यान देगा, तभी वास्तविक लाभ हो सकेगा। हां, इतना खयाल हमे जरूर रखना होगा कि व्यक्तियोंकी सेवा करनेमें अन्य व्यक्तियोंकी हिंसा, नाश या हानि न हो। देहातमें जाकर इस तरह अगर कोई कार्यकर्त्ता सिर्फ २५ व्यक्तियोंकी ही सेवा कर सका, तो समझना चाहिए कि उसने काफी काम कर लिया। ग्राम-जीवनमें प्रवेश करनेका यही सुलभ तथा सफल मार्ग है। मै यह अनुभव कर रहा हूं कि जिन्होंने मेरी व्यक्तिगत सेवा की है, उन्होंने मेरे जीवनपर अधिक प्रभाव डाला है। बापूजीके लेख मुझे कम ही याद आते हैं, लेकिन उनके हाथका परोसा हुआ भोजन मुझे सदा याद आता है। और मैं मानता हूं कि इससे मेरे जीवनमें बहुत परिवर्तन हुआ है। यह है व्यक्तिगत सेवाका प्रभाव। व्यक्तियोंकी सेवामें समाज-सेवाका निषेध नहीं है। समाज गीताकी भाषामें अनिर्देश्य है, निर्गुण है, और व्यक्ति सगुण और साकार, अतः व्यक्तिकी सेवा करना आसान है।

दूसरी और सूचना मैं रखना चाहता हूं। हमे देहातियोंके सामने ग्राम-सेवाकी कल्पना रखनी चाहिए, न कि राष्ट्र-धर्म की। उनके सामने राष्ट्र-धर्मकी बातें करनेसे लाभ न होगा। ग्राम-धर्म उनके लिए जितना स्वाभाविक और सहज है, उतना राष्ट्र-धर्म नहीं। इसलिए हमें उनके सामने ग्राम-धर्म ही रखना चाहिए, राष्ट्र-धर्म नहीं। इसमें भी वही बात है जो व्यक्ति-सेवाके

विषयमें मैंने ऊपर कही है । ग्राम-धर्म सगुण, साकार और प्रत्यक्ष होता है,. राष्ट्र-धर्म निर्गुण, निराकार और परोक्ष होता है । बच्चेके लिए त्याग करना मांको सिखाना नहीं पड़ता । आपसके झगड़े मिटाना, गांवकी सफाई तथा स्वास्थ्यका ध्यान रखना, आयात-निर्यातकी वस्तुओं और ग्रामके पुराने उद्योगोंकी जांच करना, नये उद्योग खोज निकालना, इत्यादि गांवके जीवन-व्यवहारसे संबंध रखनेवाली हरएक बात ग्राम-धर्ममें आ जाती है। पुरानी पंचायत-पद्धति नष्ट हो जानेसे देहातकी बड़ी हानि हुई है । झगड़े निबटानेमें पंचायतका बहुत उपयोग होता था । अभी इस असेंबलीके चुनाव-से हमें यह अनुभव हुआ है कि देहातियोंको राष्ट्र-धर्म समझाना कितना कठिन है । सरदार वल्लभभाई और पंडित मालवीयजीके बीच मतभेद हो गया, अब इसमें बेचारा देहाती समझे तो क्या समझे ? उसके मनमें दोनों ही नेता समानरूपसे पूज्य हैं। वह किसे माने और किसे छोड़े ? इसलिए ग्राम-सेवामें हमे ग्राम-धर्म ही अपने सामने रखना चाहिए । वैदिक ऋषियों-की भांति हमारी भी प्रार्थना यही होनी चाहिए कि **"ग्रामे अस्मिन् अनातुरम्"**—हमारे ग्राममें बीमारी न हो ।

तीसरी बात जो मैं कहना चाहता हूं वह है सेवकके रहन-सहनके संबंध-की । सेवककी आवश्यकताएं देहातियोंसे कुछ अधिक होनेपर भी वह ग्राम-सेवा कर सकता है । लेकिन उसकी वे आवश्यकताएं विजातीय नहीं, सजा-तीय होनी चाहिएं । किसी सेवकको दूधकी आवश्यकता है, दूधके बिना उस-का काम नहीं चल सकता, और देहातियोंको तो घी-दूध आजकल नसीब नहीं होता, तो भी देहातमें रहकर वह दूध ले सकता है; क्योंकि दूध सजातीय अर्थात् देहातमें पैदा होनेवाली चीज है । किंतु सुगंधित साबुन देहातमें पैदा होनेवाली चीज नहीं है, इसलिए साबुनको विजातीय आवश्यकता समझना चाहिए और सेवकको उसका उपयोग नहीं करना चाहिए । कपड़े साफ रखने-की बात लीजिए । देहाती लोग अपने कपड़े मैले रखते हैं, लेकिन सेवकको तो उन्हें कपड़े साफ रखनेके लिए समझाना चाहिए । इसके लिए बाहरसे साबुन मंगाना और उसका प्रचार करना मैं ठीक नहीं समझता । देहातमें

कपड़े साफ रखनेके लिए जो साधन उपलब्ध हैं या हो सकते हैं, उन्हींका उपयोग करके कपडे साफ रखना और लोगोंको उसके विषयमें समझाना सेवकका धर्म हो जाता है। देहातमें उपलब्ध होनेवाले साधनोसे ही जीवनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेकी ओर उसकी हमेशा दृष्टि रहनी चाहिए। सजातीय वस्तुका उपयोग करनेमें भी सेवकको विवेक और संयमकी आवश्यकता तो रहती ही है। अखबारका शौक देहातमें पूरा न हो सकेगा।

मैं जो खास बाते यहां कहना चाहता था, वे तो मैंने कह दीं। अब दो-तीन और बातें कहकर अपना वक्तव्य समाप्त करूंगा। खादी-प्रचारके कार्यमें अभीतक चरखेका ही उपयोग हुआ है। एक लाखके इनामवाले चरखेकी अभी खोज हो रही है। मैं उसे एक लाखका चरखा कहता हूं। लेकिन मेरे पास तो एक सवा लाखका चरखा है और वह है तकली। मैं सचमुच ही उसे सवा लाखका चरखा मानता हूं। खादी-उत्पत्तिके लिए चरखा उत्तम है, लेकिन सार्वजनिक वस्त्र-स्वावलंबनके लिए तकली ही उपयुक्त है। नदीका पाट चाहे कितना ही बड़ा क्यो न हो, वह वर्षाका काम नहीं दे सकता। नदीका उपयोग तो नदीके तटपर रहनेवाले ही कर सकते हैं। पर वर्षा सबके लिए है। तकली वर्षाके समान है। जहां कहीं वह चलेगी, वहां वस्त्र-स्वावलंबनका कार्य अच्छी तरह चलेगा। मुझसे बिहारके एक भाई कहते थे कि वहां मजदूरीके लिए भी तकलीका उपयोग हो रहा है। तकलीपर कातनेवालोंको वहा हफ्तेमें तीन-चार पैसे मिल जाते हैं। लेकिन उनके कातनेकी जो गति है, वह तीन या चार गुनीतक बढ़ सकती है। गति बढ़ानेसे मजदूरी भी तीन या चार या पाच गुनीतक मिल सकेगी। यह कोई मामूली बात नहीं है। हमारे देशमें एक व्यक्तिको १४-१५ गज कपड़ा चाहिए। इसके लिए प्रतिदिन सिर्फ एक सौ तार कातनेकी जरूरत है यह काम तकलीपर आध घटेमें हो सकता है। चरखा बिगड़ता भी रहता है, पर तकली तो हमेशा ही आपकी सेवामें हाजिर रहती है। इसीलिए मैं उसे सवा लाखका चरखा मानता हूं।

देहातमें सफाईका काम करनेवाले सेवक कहते हैं कि कई दिनतक यह

काम करते रहनेपर भी देहाती लोग हमारा साथ नहीं देते। यह शिकायत ठीक नहीं। स्व धर्म समझकर ही अगर हम यह काम करेंगे तो अकेले रह जानेपर उसका दु ख हमें न होगा। सूर्य अकेला ही होता है न ? यह मेरा काम है, दूसरे करें या न करें, मुझे तो अपना काम करना ही चाहिए—यह समझकर जो सेवक कायारभ करेगा उसको सिंहावलोकन करनेकी, यानी यह देखनेकी कि मेरे पीछे मददके लिए कोई और है या नहीं, आवश्यकता ही न रहेगी। सफाई सबधी सेवा है ही ऐसी चीज कि वह व्यक्तियोंकी अपेक्षा समाजकी ही अधिकतया होगी और होनी चाहिए। परतु सेवककी दृष्टि यह होनी चाहिए कि अन्य लोग अपनी जिम्मेदारी नहीं समझते, इसलिए उसे पूरा करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है। उसमें सेवकका स्वार्थ भी है, क्योंकि गावकी गदगीका असर उसके स्वास्थ्यपर भी अवश्य पड़ता है।

ओषधि वितरणमें एक बातका हमेशा खयाल रखना चाहिए कि हम अपने कायसे देहातियोको पगु तो नहीं बना रहे हैं। उनको तो स्वावलबी बनाना है। उनको स्वाभाविक तथा सयमशील जीवन और नैसर्गिक उपचार सिखाने चाहिए। रोगकी दवाइया दनेकी अपेक्षा हमें ऐसा जतन करना चाहिए कि रोग होने ही न पाय। यह काम देहातियाको अच्छी और स्वच्छ आदतें सिखानेसे ही हो सकता है।

: ३६ :

साहित्य उलटी दिशामें

पिछले दिनो एक बार हमने इस बातकी खोज की थी कि देहातके साधारण पढ़े-लिखे लोगोके घरमें कौन-सा मुद्रित वाङ्मय (छपा हुआ साहित्य) पाया जाता है। खोजके फलस्वरूप देखा गया कि कुल मिलाकर पाँच प्रकारका वाङ्मय पढ़ा जाता है।

(१) समाचारपत्र, (२) स्कूली किताबें, (३) उपन्यास, नाटक,

गल्प, कहानियां आदि (४) भाषामें लिखे हुए पौराणिक और धार्मिक ग्रंथ, (५) वैद्यक-संबंधी पुस्तकें।

उससे यह अर्थ निकलता है कि हम यदि लोगोंके हृदय उन्नत करना चाहते हैं तो उक्त पाच प्रकारके वाङ्मयकी उन्नति करनी चाहिए।

पारसालका जिक्र है। एक मित्रने मुझसे कहा, "मराठी भाषा कितनी ऊची उठ सकती है, यह ज्ञानदेवने दिखाया, और वह कितनी नीचे गिर सकती है, यह हमारे आजके समाचारपत्र बता रहे हैं!" (साहित्य-सम्मेलनके अध्यक्षकी आलोचना और हमारे मित्रके उद्‌गारका अर्थ "प्राधान्येन व्यपदेशः" सूत्रके अनुसार निकालना चाहिए। अर्थात् उनके कथनका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि सभी समाचारपत्र अक्षरशः प्रशांत महासागरकी तहतक जा पहुचे हैं। मोटे हिसाबसे परिस्थिति क्या है, इतना ही बोध उनके कथनोंसे लेना चाहिए। इस दृष्टिसे दुखपूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि यह आलोचना यथार्थ है।

लेकिन इसमे दोष किसका है? कोई कहता है कि संपादकोंका, कोई कहता है पाठकोका, कोई कहता है पूंजीपतियोका। गुनाहमे तीनों ही शरीक हैं, और "कमाईका हिस्सा" तीनोंको बराबर-बराबर मिलनेवाला है, इसमें किसीको कोई शक नहीं। परंतु मेरे मतसे---अपराधी ये तीनो भले ही हो—अपराध करनेवाला दूसरा ही है, और वही इस पापका वास्तविक 'धनी' है। वह कौन है?—साहित्यकी व्याख्या करनेवाला चटोर अथवा रुचिभ्रष्ट साहित्यकार।

"विरोधी विवादका बल, दूसरोंका जी जलाना, जली-कटी या तीखी बाते कहना, मखौल (उपहास), छल (व्यंग्य), मर्मभेद (मर्मस्पर्श), आड़ी-टेढ़ी सुनाना (वक्रोक्ति), कठोरता, पेचीदगी, सदिग्धता, प्रतारणा (कपट)"—ज्ञानदेवने ये वाणीके दोष बताए है। परंतु हमारे साहित्यकार तो ठीक उन्हीं अवगुणोको 'वाग्भूषा' या साहित्यकी सजावट मानते हैं। पिछले दिनो एक बार रामदासकी 'ओछी तबीयतवालोंको विनोद भाता है,' इस उक्तिपर कई साहित्यक बडे गरम हो गए थे। रामदासके आशयपर

ध्यान देकर, उससे उचित उपदेश लेनेके बदले इन लोगोंने यह आविष्कार किया कि विनोदका जीवन और साहित्यमें जो स्थान है, रामदास वही नहीं समझ पाए थे। उपहास, छल, मर्मस्पर्श आदि ज्ञानदेवने अस्वीकार किये, इसे भी हमारे साहित्यकार—अपनी साहित्यकी परिभाषाके अनुसार—ज्ञानदेवके अज्ञानका ही फल समझेंगे।

ज्ञानदेव या रामदासको राष्ट्र-कल्याणकी लगन थी और हमारे विद्वानोको चटपटी भाषाकी चिंता रहती है, चाहे उससे राष्ट्रघात ही क्यो न होता हो—यह इन दोनोंमें मुख्य भेद है। हमारी साहित्य निष्ठा ऐसी है कि चाहे सत्य भले ही मर जाय, साहित्य जीता रहे।

"हे प्रभो, अभीतक मुझे पूर्ण अनुभव नहीं होता है तो क्या, मेरे देव, मैं केवल कवि ही बनकर रहूं।"—इन शब्दोंमे तुकाराम ईश्वरसे अपना दुखडा रोते हैं और ये (साहित्यकार) खोज रहे हैं कि तुकारामके इस वचनमें काव्य कहातक सधा है! हमारी पाठशालाओंकी शिक्षाका सारा तरीका ही ऐसा है। मैने एक निबध पढ़ा था। उसमे लेखकने तुलसीदासकी शेक्स-पियरसे तुलना की थी और किसका स्वभाव चित्रण किस दर्जेका है, इसकी चर्चा की थी। मतलब यह कि जो तुलसीदासकी रामायण हिंदुस्तानके करोड़ों लोगोके लिए—देहातियोंके लिए भी—जीवनकी मार्ग प्रदर्शक पुस्तक है उसका अध्ययन भी यह भला आदमी स्वभाव चित्रणकी शैलीकी दृष्टिसे करेगा। शायद कुछ लोगोको मेरे कथनमे कुछ अतिशयता प्रतीत हो, लेकिन मुझे तो कई बार ऐसा ही जान पड़ता है कि इन शैली-भक्तोंने राष्ट्रके शीलकी हत्याका उद्योग शुरू किया है।

शुकदेवका एक श्लोक है जिसका भावार्थ यह है कि "जिससे जनताका चित्त शुद्ध होता है, वही उत्तम साहित्य है।" जो साहित्य-शास्त्रकार कहलाते हैं, और जिनसे आज हम प्रभावित हैं, वे यह व्याख्या स्वीकार नहीं करते। उन्होंने तो शृंगारसे लेकर वीभत्सतक विभिन्न रस माने हैं और यह निश्चित किया है कि साहित्य वही है जिसमे ये रस हों। साहित्यकी यह समूची व्याख्या स्वीकार कर लीजिए, उसमें कर्त्तव्य-शून्यता मिला दीजिए, फिर कोई भी

बतला दे कि आजके मराठी समाचारपत्रोंमें जो पाया जाता है, उसके सिवा और किस साहित्यका निर्माण हो सकता है ?

: ३७ :

लोकमान्यके चरणोंमें

आजका नैमित्तिक धर्म लोकमान्यका पुण्यस्मरण है। आज तिलककी पुण्यतिथि है।

१६२० में तिलक शरीर-रूपसे हमारे अंदर नहीं रहे। उस समय मैं बंबई गया था। चार-पाच दिन पहले ही पहुंचा था। परंतु डाक्टरने कहा, 'अभी कोई डर नही है।' इसलिए मैं एक कामसे साबरमती जानेको रवाना हुआ। मैं आधा रास्ता भी पार न कर पाया होऊंगा कि मुझे लोकमान्यकी मृत्युका समाचार मिला। मेरे अत्यत निकटके आत्मीय, सहयोगी और मित्रकी मृत्युका जो प्रभाव हो सकता है, वही लोकमान्यके निधनका हुआ। मुझपर बहुत गहरा असर हुआ। उस दिनसे जीवनमे कुछ नयापन-सा आ गया। मुझे ऐसा लगा मानो कोई बहुत ही प्रेम करनेवाला कुटुम्बी चल बसा हो। इसमें जरा भी अत्युक्ति नहा है। आज इतने बरस हो गये। आज फिर उनका स्मरण करना है। लोकमान्यके चरणोमे अपनी यह तुच्छ श्रद्धांजलि अपनी गहरी श्रद्धाके कारण मैं चढ़ा रहा हूं।

तिलकके विषयमें जब मैं कुछ कहने लगता हूं तो मुंहसे शब्द निकालना कठिन हो जाता है, गद्गद हो उठता हूं। साधु-संतोंका नाम लेते ही मेरी जो स्थिति होती है वही इस नामसे भी होती है। मैं अपने चित्तका भाव प्रकट ही नहीं कर सकता। उत्कट भावनाको शब्दोंमें व्यक्त करना कठिन होता है। गीताका भी नाम लेते ही मेरी यही स्थिति हो जाती है। मानो स्फूर्तिका संचार हो जाता है। भावनाओंकी प्रचंड बाढ़ आ जाती है। वृत्ति उमड़ने लगती है। परंतु यह बड़प्पन मेरा नहीं है। बड़प्पन गीताका है। यही हाल तिलकके

नामका है। मैं तुलना नहीं करता। क्योंकि तुलनामें सदा दोष आ जाते हैं। परंतु जिनके नामस्मरणमें ऐसी स्फूर्त्ति देनेकी शक्ति है, उन्हींमेंसे तिलक भी हैं। मानो उनके स्मरणमें ही शक्ति संचित है। रामनामको ही देखिए। कितने जड़ जीवोंका इस नामके स्मरणसे उद्धार हो गया, इसकी गिनती कौन करेगा? अनेक आंदोलन, अनेक ग्रंथ, इतिहास, पुराण—इनमेंसे किसी भी चीजका उतना प्रभाव न हुआ होगा जितना कि रामनामका हुआ है और हो रहा है। राष्ट्रोंका उदय हुआ और अस्त हुआ। राज्योंका विकास हुआ और लय हुआ। किंतु रामनामकी सत्ता अबाधितरूपसे विद्यमान है। तुलसीदासजी-ने कहा है—"कहउं नाम बड़ राम तें।" "हे राम, मुझे तुझसे तेरा नाम ही अधिक प्रिय है। तेरा रूप तो उस समयके अयोध्यावासियोंने और उस जमानेके नर-वानरोंने देखा। हमारे सामने तेरा रूप नहीं, लेकिन तेरा नाम है। जो महिमा तेरे नाममें है, वह तेरे रूपमें नहीं। हे राम, तूने शबरी, जटायु आदिका उद्धार किया। लेकिन वे तो सुसेवक थे। इसमें तेरा बड़प्पन कुछ नहीं। परंतु तेरे नामने अनेक खलजनोंका उद्धार किया, यह वेद कहते है।"

"शबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद-बिदित गुनगाथ॥"

तुलसीदासजी कहते हैं, रामकी महिमा गानेवाले मूढ़ हैं। रामने तो बड़े-बड़े सेवकोंका ही उद्धार किया। परंतु नामने? नामने असंख्य जड़-मूढ़ोंका उद्धार किया। शबरी तो असामान्य स्त्री थी। उसका वैराग्य और उसकी भक्ति कितनी महान् थी। वैसा ही वह जटायु था। इन श्रेष्ठ जीवों-का, इन भक्तजनोंका रामने उद्धार किया। कौन बड़ी बात हुई? परंतु राम-नाम तो दुर्जनोंको भी उभारता है। और दरअसल मुझे इसका अनुभव हो रहा है। मुझसे बड़ा खल दूसरा कौन हो सकता है? मेरे समान दुष्ट मैं ही हूं। मुझे इस विषयमें दूसरोंका मत जाननेकी जरूरत नहीं। नामसे उद्धार होता है। जिन्होंने पवित्र कर्म किये, अपना शरीर परमार्थमें खपाया, उनके नाममें ऐसा सामर्थ्य आ जाता है।

इसीमें मनुष्यकी विशेषता है। आहार-विहारादि दूसरी बातोंमें मनुष्य और पशु समान ही हैं। परतु जिस प्रकार मनुष्य पशु या पशुसे भी नीच बन सकता है, उसी प्रकार पराक्रमसे, पौरुषसे, वह परमात्माके निकट भी जा सकता है। मनुष्यमे ये दोनो शक्तियां हैं। खूब मांस और अंडे वगैरह खा कर, दूसरे प्राणियोका भक्षण कर वह शेरके समान हृष्ट-पुष्ट भी बन सकता है; या दूसरोंके लिए अपना शरीर भी फेक सकता है। मनुष्य अपने लिए अनेकों-का घात करके पशु बन सकता है; या अनेकोंके लिए अपना बलिदान कर पवित्रनामा भी बन सकता है। पशुकी शक्ति मर्यादित है। उसकी बुराईकी भी मर्यादा है। लेकिन मनुष्यके पतनकी या ऊपर उठनेकी कोई सीमा नहीं है। वह पशुसे भी नीचे गिर सकता है। और इतना ऊपर चढ सकता है कि देवता ही बन जाता है। जो गिरता है, वही चढ़ भी सकता है। पशु अधिक गिर भी नही सकता, इसलिए चढ़ भी नही सकता। मनुष्य दोनो बातोमे पराकाष्ठा कर सकता है। जिन लोगोंने अपना जीवन सारे संसारके लिए अर्पण कर दिया, उनके नाममे बहुत बड़ी पवित्रता आ जाती है। उन-का नाम ही तारेके समान हमारे सम्मुख रहता है। हम नित्य तर्पण करते हुए कहते हैं, 'वसिष्ठं तर्पयामि', 'भारद्वाजं तर्पयामि', 'अत्रि तर्पयामि', इन ऋषियोके बारेमे हम क्या जानते हैं? क्या सात या आठ सौ पन्नोंमें उनकी जीवनी लिख सकते हैं? शायद एकाध सफा भी नही लिख सकेंगे। लेकिन उनकी जीवनी न हो तो भी वसिष्ठ—यह नाम ही काफी है। यह नाम ही तारक है। और कुछ शेष रहे या न रहे, केवल नाम ही तारेके समान मार्ग-दर्शक होगा, प्रकाश देगा। मेरा विश्वास है कि सैकड़ो वर्षोंके बाद तिलक-का नाम भी ऐसा ही पवित्र माना जायगा। उनका जीवन-चरित्र आदि बहुत-सा नहीं रहेगा, किंतु इतिहासके आकाशमे उनका नाम तारेके समान चमकता रहेगा।

हमे महापुरुषोके चारित्र्यका अनुसरण करना चाहिए, न कि उनके चरित्र-का। दरअसल महत्त्व चारित्र्यका है। शिवाजी महाराजने सौ-दो-सौ किले बनवाकर स्वराज्य प्राप्त किया। इसलिए आज यह नही समझना चाहिए कि

उसी तरह किले बनानेसे स्वराज्य प्राप्त होगा। किंतु जिस वृत्तिसे उन्होंने अपना जीवन बिताया और लडाई की, वह वृत्ति, वे गुण हमें चाहिएं। जिस वृत्तिसे शिवाजीने काम किया, उस वृत्तिसे हम आज भी स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए मैंने कहा है कि उस समयका रूप हमारे कामका नहीं है, उसका भीतरी रहस्य उपयोगी है। चरित्र उपयोगी नहीं, चारित्र्य उपयोगी है। कर्त्तव्य करते हुए उनकी जो वृत्ति थी वह हमारे लिए आवश्यक है। उनके गुणोंका स्मरण आवश्यक है। इसीलिए तो हिन्दुओंने चरित्रका बोझ छोड़कर नामस्मरणपर जोर दिया। इतने महान् व्यक्तियोंका सारा चरित्र दिमागमें रखनेकी कोशिश करें तो उसीके मारे दम घुटने लगे। इसीलिए केवल गुणोंका स्मरण करना है, चरित्रका अनुकरण नहीं।

एक कहानी मशहूर है। कुछ लडकोंने 'साहसी यात्री' नामकी एक पुस्तक पढी। फौरन यह तय किया गया कि जैसा उस पुस्तकमें लिखा है, वैसा ही हम भी करें। उस पुस्तकमें बीस पच्चीस युवक थे। ये भी जहां-तहां-से बीस पच्चीस इकट्ठे हुए। पुस्तकमेंलिखा था कि वे एक जंगलमें गये। फिर क्या था? ये भी एक जंगलमें पहुंचे। पुस्तकमें लिखा था कि उन लडकों-को जंगलमें एक शेर मिला। अब ये बेचारे शेर कहांसे लायें? आखिर, उनमें जो एक बुद्धिमान लडका था वह कहने लगा, "अरे भाई, हमने तो शुरूसे आखिरतक गलती ही की। हम उन लड़कोंकी नकल उतारना चाहते है। लेकिन यहां तो सब कुछ उलटा ही हो रहा है। वे लड़के कोई पुस्तक पढ़कर थोडे ही निकले थे मुसाफिरी करने! हमसे तो शुरूमें ही गलती हुई।"

तात्पर्य यह कि हम चरित्रकी सारी घटनाओंका अनुकरण नहीं कर सकते। चरित्रका तो विस्मरण होना चाहिए। केवल गुणोंका स्मरण पर्याप्त है। इतिहास तो भूलनेके लिए ही है और लोग उसे भूल भी जाते हैं। लड़कोंके ध्यानमें वह सब का-सब रहता भी नहीं है। इसके लिए उनपर फिजूल मार भी पड़ती है। इतिहाससे हमें सिर्फ गुण ही लेने चाहिएं। जो गुण हैं, उन्हें कभी भूलना नहीं चाहिए, श्रद्धापूर्वक याद रखना चाहिए। पूर्वजोंके गुणोंका श्रद्धापूर्वक

स्मरण ही श्राद्ध है। यह श्राद्ध पावन होता है। आजका श्राद्ध मुझे पावन प्रतीत होता है। उसी प्रकार आपको भी अवश्य होता होगा।

तिलकका पहला गुण कौन-सा था? तिलक जातितः ब्राह्मण थे। लेकिन जो ब्राह्मण नहीं हैं, वे भी उनका गुण स्मरण कर रहे हैं। तिलक महाराष्ट्रके मराठे थे। लेकिन पंजाबके पंजाबी और बंगालके बंगाली भी उन्हें पूज्य मानते हैं। हिंदुस्तान तिलकका ब्राह्मणत्व और उनका मराठापन, सब कुछ भूल गया है। यह चमत्कार है। इसमें रहस्य है—दोहरा रहस्य है। इस चमत्कारमें तिलकका गुण तो है ही, हमारे पूर्वजोंकी कमाईका भी गुण है। जनताका एक गुण और तिलकका एक गुण—दोनोंके प्रभावसे यह चमत्कार हुआ कि ब्राह्मण और महाराष्ट्रीय तिलक सारे भारतमें सभी जातियों द्वारा पूजे जाते हैं। दोनोंके गुणकी ओर हमें ध्यान देना चाहिए।

इस अवसरपर मुझे अहल्याकी कथा याद आ रही है। रामायणमें मुझे अहल्याकी कथा बहुत सुहाती है। रामका सारा चरित्र ही श्रेष्ठ है और उसमें यह कथा बहुत ही प्यारी है। आज भी यह बात नहीं कि हमारे अंदर राम (सत्त्व) न रहा हो। आज भी राम है। राम-जन्म हो चुका है, चाहे उसका किसीको पता हो या न हो। परंतु आज राष्ट्रमें राम है, क्योंकि अन्यथा यह जो थोड़ा-बहुत तेजका संचार देख पड़ता है, वह न दिखाई देता। गहराईसे देखें तो आज रामका अवतार हो चुका है। यह जो रामलीला होरही है, इसमें कौन-सा हिस्सा लूं, किस पात्रका अभिनय करूं, यह मैं सोचने लगता हूं। रामकी इस लीलामें मैं क्या बनूं? लक्ष्मण बनूं? नहीं, नहीं। उनकी वह जागृति, वह भक्ति कहांसे लाऊं? तो क्या भरत बनूं? नहीं, भरतकी कर्त्तव्य-दक्षता, उत्तरदायित्वका बोध, उनकी दयालुता और त्याग कहांसे लाऊं? हनुमानका तो नाम भी मानो रामका हृदय ही है। तो फिर गांठमें पुण्य नहीं है, इसलिए क्या रावण बनूं? ऊंऽऽहूं। रावण भी नहीं बन सकता। रावणकी उत्कटता, महत्त्वाकांक्षा मेरे पास कहां है? फिर मैं कौन-सा स्वांग लूं? किस पात्रका अभिनय करूं? क्या ऐसा कोई पात्र नहीं है जो मैं बन सकूं? जटायु, शबरी?—ये तो सुसेवक थे। अंतमें मुझे अहल्या नजर आई।

अहल्या तो पत्थर बनकर बैठी थी।

सोचा, मैं अहल्याका अभिनय करूं। जड़ पत्थर बनकर बैठूं। इतनेमें वह अहल्या बोल उठी, "सारी रामायणमें सबसे तुच्छ जड़-मूढ़ पात्र क्या मैं ही ठहरी? अरे बुद्धिमान, क्या अहल्याका पात्र सबसे निकृष्ट है? मुझमें क्य कोई योग्यता ही नहीं? अरे, रामकी यात्रामें तो अयोध्यासे लेकर रामेश्वरत हजारों पत्थर थे, उनका क्यों नहीं उद्धार हुआ? मैं कोई नालायक पत्थर नहीं हूं। मैं भी गुणी पत्थर हूं।" अहल्याकी बात मुझे जच गई। परंतु अहल्याके पत्थर में गुण थे, तो भी यह सारी महिमा केवल उस पत्थरकी नहीं। उसी प्रकार सारी महिमा रामके चरणोंकी भी नहीं। अहल्याके समान पत्थर और रामके चरणों-जैसे चरण, दोनोंका सयोग चाहिए। न तो रामके चरणोंसे दूसरे पत्थरोंका ही उद्धार हुआ और न किसी दूसरेके चरणोंसे अहल्याका ही।

इसे मैं अहल्या-राम-न्याय कहता हूं। दोनोंके मिलापसे काम होता है। यही न्याय तिलकके दृष्टांतपर घटित होता है। तिलकका ब्राह्मणत्व, महाराष्ट्रीयत्व आदि सब भूलकर सारा हिंदुस्तान उनकी पुण्य-स्मृति मनाता है। इस चमत्कारमें तिलकके गुण और जनताके गुण, दोनोंका स्थान है। इस चमत्कारके दोनों कारण हैं। कुछ गुण तिलकका है और कुछ उन्हें माननेवाली साधारण जनताका। हम इन गुणोंका जरा पृथक्करण करें।

तिलकका गुण यह था कि उन्होंने जो कुछ किया उसमें सारे भारतवर्षका विचार किया। तिलकके फूल बंबईमें गिरे, इसलिए वहां उनके स्मारक मंदिर होंगे। उन्होंने मराठीमें लिखा, इसलिए मराठी भाषामें उनके स्मारक होंगे। लेकिन तिलकने जहां कहीं जो कुछ किया—चाहे जिस भाषामें क्यों न किया हो, वह सब भारतवर्षके लिए किया। उन्हें यह अभिमान नहीं था कि मैं ब्राह्मण हूं, मैं महाराष्ट्रका हूं। उनमें पृथकताकी, भेदकी, भावना नहीं थी। वह महाराष्ट्रीय थे तो भी उन्होंने सारे भारतवर्षका विचार किया। जिन अर्वाचीन महाराष्ट्रीय विभूतियोंने सारे भारतवर्षका विचार किया, तिलक उनमेंसे एक थे। और दूसरे जो मेरी दृष्टिके सामने आते हैं, वह थे महर्षि

न्यायमूर्ति रानडे। तिलकने महाराष्ट्रको अपनी जेबमें रक्खा और सारे हिंदुस्तान-के लिए लड़ते रहे। "हिंदुस्तानके हितमें मेरे महाराष्ट्रका भी हित है, इसीलिए पूनेका हित है, पूनेमें रहनेवाले मेरे परिवारका हित है और परिवारमें रहनेवाले मेरा भी हित है। हिंदुस्तानके हितका विचार करनेसे उसीमें महाराष्ट्र, पूना, मेरा परिवार और मैं, सबके हितका विचार आ जाता है।" यह तत्त्व उन्होंने जान लिया था, और उसीके अनुसार उन्होंने काम किया। ऐसी विशाल उन-की व्याख्या थी। जो सच्ची सेवा करना चाहता है, उसे वह सेवा किसी मर्यादित स्थानमें करनी पड़ेगी। लेकिन उस मर्यादित स्थानमें रहकर की जाने-वाली सेवाके पीछे जो वृत्ति रहेगी, वह विशाल, व्यापक और अमर्यादित होनी चाहिए।

शालग्राम मर्यादित है। लेकिन उसमें मैं जिस भगवान्‌के दर्शन करता हूं, वह सर्वब्रह्माडव्यापी, चर-अचर, जड-चेतना सबमें निवास करने वाला ही है। तभी तो वह वास्तविक पूजा हो सकती है। **'जलेस्थले तथा काष्ठे विष्णुः पर्वत-मूर्धनि।'** उस त्रिभुवन-व्यापक विष्णुको यदि वह पुजारी शालग्राममें न देखेगा तो उसकी पूजा निरा पागलपन होगी। सेवाकरनेमें भी खूबी है, रहस्य है। अपने गावमें रहकर भी मैं विश्वेश्वरकी सेवा कर सकता हूं। दूसरेको न लूटते हुए जो सेवा की जाती है वह अनमोल हो सकती है, होती भी है।

तुकारामने अपना देहू नामक गांव नहीं छोड़ा। रामदास दस गावोंमें विचरे और सेवा करते रहे। फिर भी दोनोंकी सेवाका फल एक है, अनंत है। यदि बुद्धि व्यापक हो तो अल्प कर्मसे भी अपार मूल्य मिलता है। सुदामा मुट्ठीभर ही तडुल लेकर गये थे, लेकिन उन तडुलोंमें प्रचंड शक्ति थी। सुदामाकी बुद्धि व्यापक थी। बहुत बड़ा कर्म करनेपर भी कुछ अभागोंको बहुत थोड़ा फल मिलता है। लेकिन सुदामा छोटे-से कर्मसे बहुत बड़ा फल प्राप्त कर सके। जिसकी बुद्धि शुद्ध, निष्पाप, पवित्र तथा समत्वयुक्त है, भक्तिमय और प्रेममय है, वह छोटी सी भी क्रिया करे तो भी उसका फल महान् होता है। मूल्य बहुत बड़ा होता है। यह एक महान् आध्यात्मिक

सिद्धांत है। मांका पत्र दो ही शब्दोंका क्यों न हो, विलक्षण प्रभाव डालता है। वह प्रेमकी स्याहीसे पवित्रताके स्वच्छ कागजपर लिखा होता है। दूसरा कोई पोथा कितने ही सफेद कागजपर क्यों न लिखा हुआ हो, यदि उसके मूलमें शुद्ध बुद्धि न हो, निर्मल बुद्धि न हो, जो कुछ लिखा गया है वह प्रेममें ढला हुआ न हो, तो सारा पोथा बेकार है।

परमात्माके यहां 'कितनी सेवा', यह पूछ नहीं है। 'कैसी सेवा', यह पूछ है। तिलक अत्यंत बुद्धिमान, विद्वान्, नाना शास्त्रोंके पंडित थे, इसलिए उनकी सेवा अनेकांगी और बहुत बड़ी है। परंतु तिलकने जितनी कीमती सेवा की, उतनी ही कीमती सेवा एक देहाती सेवक भी कर सकता है। तिलककी सेवा विपुल और बहुअंगी थी तो भी उसका मूल्य और एक स्वच्छ सेवककी सेवाका मूल्य बराबर हो सकता है। एक गाड़ीभर ज्वार रास्तेसे जा रही हो, लेकिन उसकी कीमत मैं अपनी छोटी सी जेबमें रख सकता हूं। दस हजारका नोट अपनी जेबमें रख सकता हूं। उसपर सरकारी मुहरभर लगी हो। आपकी सेवापर व्यापकताकी मुहर लगी होनी चाहिए। अगर कोई सेवा तो बहुत करे पर व्यापक दृष्टि और वृत्तिसे न करे तो उसकी कीमत व्यापक दृष्टिसे की हुई छोटी-सी सेवाकी अपेक्षा कम ही मानी जायगी। व्यापक वृत्तिसे की हुई अल्प सेवा अनमोल हो जाती है, यह उसकी खूबी है। आप और मैं सब कोई सेवा कर सकें, इसीलिए परमात्माकी यह योजना है। चाहे जहां चाहे जो कुछ भी कीजिए, पर संकुचित दृष्टिसे न कीजिए। उसमें व्यापकता भर दीजिए। यह व्यापकता आजके कार्यकर्त्ताओंमें कम पाई जाती है। कुशल कार्यकर्त्ता आज संकुचित दृष्टिसे काम करते हुए देख पड़ते हैं।

तिलककी दृष्टि व्यापक थी, इसलिए उनके चारित्र्यमें मिठास और आनंद है। हिंदुस्तानके ही नहीं, बल्कि संसारके किसी भी समाजके वास्तविक हितका विरोध न करते हुए चाहे जहां सेवा कीजिए। चाहे वह एक गांवकी ही सेवा क्यों न हो, वह अनमोल है। परंतु यदि बुद्धि व्यापक हो तो अपनी दृष्टि व्यापक बनाइए। फिर देखिए, आपके कर्मोंमें कैसी स्फूर्तिका संचार होता है। कैसी बिजलीका संचार होता है। तिलकमें यही व्यापकता थी। मैं

भारतीय हूं, यह शुरूसे ही उनकी वृत्ति रही। बंगालमें आंदोलन शुरू हुआ। उन्होंने दौड़कर उसकी मदद की। बंगालका साथ देनेके लिए महाराष्ट्रको खड़ा किया। स्वदेशीका डंका बजवाया। "जब बंगाल लड़ाईके मैदानमें खड़ा है तो हमें भी जाना ही चाहिए। जो बंगालका दु:ख है, वह महाराष्ट्रका भी दु:ख है।" ऐसी व्यापकता, सार्वराष्ट्रीयता तिलकमें थी। इसीलिए पूनेके निवासी होकर भी वे हिन्दुस्तानके प्राण बन गये। सारे देशके प्रिय बने। तिलक सारे भारतवर्षके लिए पूजनीय हुए, इसका एक कारण यह था कि उनकी दृष्टि सार्वराष्ट्रीय थी, व्यापक थी।

लेकिन इसका एक दूसरा भी कारण था। वह था जनताकी विशेषता। जनताका यह गुण कार्यकर्त्ताओंमें भी है, क्योंकि वे भी तो जनताके ही हैं। लेकिन उनको खुद इस बातका पता नहीं है। तिलकके गुणके साथ जनताके गुणका स्मरण भी करना चाहिए, क्योंकि तिलक अपने आपको जनताके चरणोंकी धूल समझते थे। जनताके दोष, जनताकी दुर्बलता, जनताकी त्रुटियां, सब कुछ वे अपनी ही समझते थे। वे जनतासे एकरूप होगये थे, इसलिए जनताके गुणोंका स्मरण तिलकके गुणोंका स्मरण ही है।

यह जो जनताका गुण है, वह हमारा कमाया हुआ नहीं है। हमारे महान्, पुण्यवान्, विशाल दृष्टिवाले पूर्वजोंकी यह देन है। यह गुण मानो हमने अपनी माके दूधके साथ ही पिया है। उन श्रेष्ठ पूर्वजोंने हमें यह सिखाया कि मनुष्य किस प्रांतका, किस जातिका है, यह देखनेके बदले इतना ही देखो कि वह भला है या नहीं, वह भारतीय है या नहीं। उन्होंने हमें यह सिखाया कि भारतवर्ष एक राष्ट्र है। कई लोग कहते हैं कि अंग्रेजोंने यहां आकर हमें देशाभिमान सिखलाया। तब कहीं हम राष्ट्रीयतासे परिचित हुए। पर यह गलत है। एकराष्ट्रीयताकी भावना अगर हमें किसीने सिखाई है तो वह हमारे पुण्यवान् पूर्वजोंने। उन्हींकी कृपासे यह अनूठी देन हमें प्राप्त हुई है।

हमारे राष्ट्रर्षिने हमें यह सिखावन दी है कि 'दुर्लभं भारते जन्म'। 'दुर्लभं वंगेषु जन्म', 'दुर्लभं गुर्जरेषु जन्म', ऐसा उन्होंने नहीं कहा। ऋषिने तो यही कहा कि 'दुर्लभं भारते जन्म'। काशीमें गंगातटपर रहनेवालेको किस बातकी तड़प होती है? वह इसके लिए तड़पता है कि काशीकी गंगाकी बहंगी या कांवर भरकर कब रामेश्वरको चढ़ाऊं? मानो काशी और रामेश्वर उसके मकानका आंगन और पिछवाड़ा हो। वास्तवमें तो काशी और रामेश्वरमे पन्द्रह सौ मीलका फासला है, परंतु आपको आपके श्रेष्ठ ऋषियोंने ऐसा वैभव दिया है कि आपका आंगन पंद्रह सौ मीलका है। रामेश्वरमें रहनेवाला इसलिए तड़पता है कि रामेश्वरके समुद्रका जल काशी-विश्वेश्वरके मस्तकपर चढ़ाऊं। वह रामेश्वरका समुद्र-जल काशीतक ले जायगा। कावेरी और गोदावरीके जलमे नहानेवाला भी जय 'गंगे', 'हरगंगे' ही कहेगा। गंगा सिर्फ काशीमे ही नही, यहांपर भी है। जिस बर्तनमे हम नहानेके लिए पानी लेते है, उसे भी गंगाजल (गंगालय) नाम दे दिया है। कैसी व्यापक और पवित्र भावना है यह। यह भारतीय भावना है।

यह भावना आध्यात्मिक नही, किंतु राष्ट्रीय है। आध्यात्मिक मनुष्य 'दुर्लभं भारते जन्म' नहीं कहेगा। वह और ही कहेगा। जैसा कि तुकारामने कहा, 'आमुचा स्वदेश। भुवनत्रया मध्यें वास॥' (स्वदेशो भुवनत्रयम्) उन्होंने आत्माकी मर्यादाको व्यापक बना दिया। सारे दरवाजो, सारे किलोको तोड़कर आत्माको प्राप्त किया। तुकारामके समान महापुरुषोंने, जो आध्यात्मिक रंगमें रंगे हुए थे, अपनी आत्माको स्वतंत्र संचार करने दिया। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इस भावनासे प्रेरित होकर, सारे भेद-भावोको पार कर जो सर्वत्र चिन्मयताके दर्शन कर सके, वे धन्य हैं। लोग भी समझ गये कि ये सारे विश्वके हैं, इनकी कोई सीमा नही है। परंतु 'दुर्लभं भारते जन्म' की जो कल्पना ऋषियोंने की, वह आध्यात्मिक नहीं, राष्ट्रीय है।

बाल्मीकिने अपनी रामायणके प्रारंभिक श्लोकोंमें रामके गुणोंका वर्णन किया है। रामका गुणगान करते हुए राम कैसे थे, इसका वे यों वर्णन करते

हैं कि, **'समुद्रइव गाम्भीर्ये स्थैर्ये च हिमवानिव'**—"स्थिरता ऊपरवाले हिमालय- जैसी और गाभीर्य पैरोंके निकटवाले समुद्र-जैसा।" देखिए, कैसी विशाल उपमा है। एक सांसमें हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीतकके दर्शन कराए। पाच मील ऊंचा पर्वत और पांच मील गहरा सागर एकदम दिखाए। तभी तो यह रामायण राष्ट्रीय हुई। वाल्मीकिके रोम-रोममें राष्ट्रीयत्व भरा हुआ था, इसलिए वे सार्वराष्ट्रीय रामायण रच सके। उनकी रामायण संस्कृत मे है तो भी सबकी आदरणीय है। वह जितनी महाराष्ट्रमे प्रिय है, उतनी ही मद्रासकी तरफ केरलमे भी है। श्लोकके एक ही चरणमें उत्तर भारत और दक्षिणका समावेश कर दिया। विशाल और भव्य उपमा है।

हमसे कोई पूछे कि तुम कितने हो, तो हम तुरंत बोल उठेंगे, हम पैंतीस करोड़ बहन-भाई है। अंग्रेजसे पूछो तो वह चार करोड़ बतलाएगा। फरासीसी सात करोड़ बतलाएगा। जर्मन छः करोड़ बतलाएगा। बेलजियन साठ लाख बतलाएगा। यूनानी आध करोड बतलाएगा। और हम पैं–ती–स करोड़! ऐसा फर्क क्यों हुआ? हमने इन पैंतीस करोडको एक माना। उन्होंने नही माना। सच पूछो तो जर्मनोंकी भाषा और फरासीसियोंकी भाषा अधिक विसदृश नही है, जैसी मराठी और गुजराती। यूरोपकी भाषाएं लगभग एक-सी है। उनका धर्म भी समान है। भिन्न-भिन्न राष्ट्रोंमे परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार भी होता है। लेकिन फिर भी उन्होंने यूरोपके अलग-अलग टुकड़े कर डाले! हिंदुस्तानके प्रांतोंने अपनेको अलग-अलग नही माना। यूरोपके लोगोंने ऐसा मान लिया। हिंदुस्तान भी तो रूसको छोड बाकीके सारे यूरोपके बराबर एक खड (महाद्वीप) ही है। लेकिन हमने भारतको एक खंड, यानी अनेक देशोंका समुदाय न मानकर भारतवर्षके नामसे सारा एक ही देश माना, एक राष्ट्र माना।

उन अभागे यूरोपवासियोंने सारा यूरोप एक नहीं माना। उन्होंने यूरोप-को एक खड (महाद्वीप) माना। उसके छोटे-छोटे टुकडे किये। एक-एक टुकडेको अपना मान लिया और एक दूसरेसे घनघोर युद्ध किये। पिछले महा-समरको ही ले लीजिए। लाखों लोग मरे। वे एक दूसरेसे लडे, मगर आपसमें

नहीं लड़े। यह कुसूर उन्होंने नहीं किया। लेकिन हमने भारतको एक राष्ट्र मान लिया और हम आपसमें लड़े।

अग्रेज या यूरोपीय इतिहासकार हमसे कहा करते हैं कि "तुम आपसमें लड़ते रहे, अतस्थ कलह करते रहे।" आपसमें लड़ना बुरा है, यह तो मैं भी मानता हूं। लेकिन यह दोष स्वीकार करते हुए भी मुझे इस आरोपपर अभिमान है। हम लड़े, लेकिन आपसमें। इसका अर्थ यह हुआ कि हम एक हैं, यह बात इन इतिहासकारोंको भी मजूर है। उनके आक्षेपमें ही यह स्वीकृति आ गई है। कहा जाता है कि यूरोपीय राष्ट्र एक दूसरेसे लड़े, लेकिन अपने ही देशमें आपसमें नहीं लड़े। लेकिन इसमें कौन सी बड़ाई है। एक छोटे-से मानवसमुदायको अपना राष्ट्र कहकर यह शेखी बघारना कि हमारे अंदर एकता है, आपसमें फूट नहीं है, कौन सी बहादुरी है? मान लीजिए कि मैंने अपने राष्ट्रकी 'मेरा राष्ट्र यानी मेरा शरीर' इतनी सकुचित व्याख्या कर ली, तो आपसमें कभी युद्ध ही न होगा। हां, मैं ही अपने मुंहपर चटसे एक थप्पड़ जड़ दूं तो अलबत्ता लड़ाई होगी। परन्तु 'मैं ही मेरा राष्ट्र हूं' ऐसी व्याख्या करके मैं अपने भाईसे, मांसे, किसीसे भी लड़ूं, तो भी यह आपसकी लड़ाई नहीं होगी, क्योंकि मैंने तो अपने साढ़े तीन हाथके शरीरको ही अपना राष्ट्र मान लिया है। साराश, हम आपसमें लड़े, यह अभियोग सही है, परंतु वह अभिमानास्पद भी है, क्योंकि इस अभियोगमें ही अभियोग लगानेवालेने यह मान लिया है कि हम एक हैं, हमारा एक ही राष्ट्र है। यूरोपके अभागोंने इस कल्पनाका विनाश किया। हमें उसकी शिक्षा दी गई है। इतना ही नहीं, वह हमारी रग-रगमें पैठ गई है। हम पुराने जमानेमें आपसमें लड़े, तो भी यह एकराष्ट्रीयताकी भावना आज भी विद्यमान है। महाराष्ट्रने पजाबपर, गुजरात और बगालपर चढ़ाइयां कीं, फिर भी यह एकराष्ट्रीयताकी, आत्मीयताकी भावना नष्ट नहीं हुई।

जनताके इस गुणकी बदौलत तिलक सब प्रांतोंमें प्रिय और पूज्य हुए। तिलक-गांधी तो अलौकिक पुरुष हैं। सब प्रांत उन्हें पूजेंगे ही। परंतु राजगोपालाचार्य, जमनालालजी आदि तो साधारण मनुष्य हैं। लेकिन उनकी

भी सारे प्रांतोंमें प्रतिष्ठा है। पंजाब, महाराष्ट्र, कर्नाटक उनका आदर करते हैं। हमें उसका पता भले ही न हो, लेकिन एकराष्ट्रीयताका यह महान् गुण हमारे खूनमें ही घुल-मिल गया है। हमारे यहां एक प्रांतका नेता दूसरे प्रांतमें जाता है, लोगोंके सामने अपने विचार रखता है। क्या यूरोपमें यह कभी हो सकता है? जरा जाने दीजिए मुसोलिनीको रूसमें फासिज्मपर व्याख्यान देने। लोग उसे पत्थर मार-मारकर कुचल डालेंगे या फांसीपर लटका देंगे। हिटलर और मुसोलिनी जब मिलते हैं तो कैसा जबरदस्त बंदोबस्त किया जाता है, कैसी चुपचाप गुप्त रूपसे मुलाकात होती है। मानो दो खूनी आदमी किसी साजिशके लिए एक दूसरेसे मिल रहे हैं! किले, परकोटे, दीवारें सब तरफ खड़ी करके सारे यूरोपमें द्वेष और मत्सर फैला दिया है इन लोगोंने। पर हिंदुस्तानमें ऐसी बात नहीं है। तिलक-गांधीको छोड़ दीजिए। ये लोकोत्तर पुरुष हैं। किंतु दूसरे साधारण लोगोंका भी सर्वत्र आदर होता है। लोग उनकी बातें ध्यानसे सुनते हैं। ऐसी राष्ट्रीय भावना ऋषियोंने हमें सिखाई है। समाज और जनतामें सर्वत्र इसका असर मौजूद है। अज्ञात रूपसे वह हमारी नस-नसमें विद्यमान है।

हमें इस गुणका पता नहीं था। आइए, अब ज्ञानपूर्वक हम उससे परिचय कर लें। आज तिलकका स्मरण सर्वत्र किया जायगा। उनके ब्राह्मण होते हुए भी, महाराष्ट्रीय होते हुए भी, सब जनता सर्वत्र उनकी पूजा करेगी, क्योंकि तिलककी दृष्टि व्यापक थी। वह सारे भारतवर्षका विचार करते थे। वह सारे हिंदुस्तानसे एकरूप हो गये थे। यह तिलककी विशेषता है। भारतकी जनता भी प्रांताभिमान आदिका खयाल न करती हुई गुणोंको पहचानती है। यह भारतीय जनताका गुण है। इन दोनोंके गुणोंका यह चमत्कार है कि तिलकका सर्वत्र सब लोग स्मरण कर रहे हैं। जैसे एक ही आमकी गुठलीसे पेड़, शाखा और आम पैदा होते हैं, उसी प्रकार एक ही भारतमाताके बाह्यतः जुदा-जुदा पुत्र दिखाई देते हैं—कोई क्रोधी, कोई स्नेही। फिर भी मीठे और मुलायम आम जिस गुठलीसे पैदा होते हैं, उसीसे पेड़का कठिनधड़ भी पैदा होता है। इसी तरहसे हम ऊपरसे कितने ही भिन्न क्यों न दिखाई दें,

तो भी हम एक ही भारतमाताकी संतान हैं, यह कदापि न भूलना चाहिए। इसे ध्यानमें रखकर प्रेम-भाव बढ़ाते हुए सेवकोंको सेवाके लिए तैयार होना चाहिए। तिलकने ऐसी ही सेवा की। आशा है, आप भी करेंगे।

: ३८ :

निर्भयताके प्रकार

निर्भयता तीन प्रकारकी होती है—विज्ञ निर्भयता, ईश्वरनिष्ठ निर्भयता, विवेकी निर्भयता। 'विज्ञ' निर्भयता वह निभयता है जो खतरोंसे परिचय प्राप्त करके उनके इलाज जान लेनेसे आती है। यह जितनी प्राप्त हो सकती हो, उतनी कर लेनी चाहिए। जिसकी सांपोंसे जान-पहचान हो गई, निर्विष और सविष सापोंका भेद जिसने जान लिया, साप पकड़नेकी कला जिसे सिद्ध हो गई, साप काटनेपर किये जानेवाले इलाज जिसे मालूम हो गये, सांपसे बचनेकी युक्ति जिसे विदित हो गई, वह सापोंकी तरफसे काफी निर्भय हो जायगा। अवश्य ही यह निर्भयता सापोंतक ही सीमित रहेगी। हरएकको शायद वह प्राप्त न हो सके, लेकिन जिसे सापोंमें रहना पड़ता है, उसके लिए यह निर्भयता व्यावहारिक उपयोगकी चीज है। क्योंकि उसकी बदौलत जो हिम्मत आती है वह मनुष्यको अस्वाभाविक आचरणसे बचाती है। लेकिन यह निर्भयता मर्यादित है।

दूसरी यानी ईश्वरनिष्ठ निर्भयता, मनुष्यको पूर्ण निर्भय बनाती है। परंतु दीर्घ प्रयत्न, पुरुषार्थ, भक्ति इत्यादि साधनोंके सतत अनुष्ठानके बिना वह प्राप्त नहीं होती। जब वह प्राप्त होगी तो किसी अवांतर सहायताकी जरूरत ही न रहेगी।

इसके बाद तीसरी विवेकी निर्भयता है। वह मनुष्यको अनावश्यक और ऊटपटांग साहस नहीं करने देती। और फिर भी अगर खतरेका सामना करना ही पड़े तो विवेकसे बुद्धि शांत रखना सिखाती है। साधकको चाहिए

कि वह इस विवेकी निर्भयताकी आदत डालनेका प्रयत्न करे। वह हरएककी पहुचमे है।

मान लीजिए कि मेरा शेरसे सामना हो गया और वह मुझपर झपटना ही चाहता है। सभव है कि मेरी मृत्यु अभी बदी ही न हो। अगर बदी हो तो वह टल नही सकती। परतु यदि मैं भयभीत न होकर अपनी बुद्धि शात रखनेका प्रयत्न करू तो बचनेका कोई रास्ता सूझनेकी सभावना है। या ऐसा को उपाय न सूझे तो भी अगर मैं अपना होश बनाये रखू तो अंतिम समयमे हरि-स्मरण कर सकू गा। ऐसा हुआ तो यह परम लाभ होगा। इस प्रकार यह विवेकी निर्भयता दोनो तरहसे लाभदायी है। और इसीलिए यह सबके प्रयत्नोका विषय होने योग्य है।

[अक्तूबर, १९४०

: ३९ :

आत्मशक्तिका अनुभव

आप सब जानते है कि आज गांधीजीका जन्म-दिन है। ईश्वरकी कृपासे हमारे इस हिंदुस्तानमे गाधीजी-जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति इससे पहले भी हुए हैं। ईश्वर हमारे यहा समय-समयपर ऐसे अच्छे व्यक्ति भेजता आया है। आइये, हम ईश्वरसे प्रार्थना करे कि हमारे देशमे सत्पुरुषोकी ऐसी ही अखंड परंपरा चलती रहे।

मै आज गाधीजीके विषयमें कुछ न कहूगा। अपने नामसे कोई उत्सव हो, यह उन्हे पसद नहीं है। इसलिए उन्होने इस सप्ताहको खादी-सप्ताह नाम दिया है। अपनेसे संबंध रखनेवाले उत्सवको कोई प्रोत्साहन नहीं दे सकता, परतु गांधीजी इस उत्सवको प्रोत्साहन दे सकते हैं कारण, यह उत्सव एक सिद्धांतके प्रसारके लिए, एक विचारके विस्तारके लिए मनाया जाता है।

गांधीजी किसी ज्ञानी पुरुषके एक कथनका जिक्र किया करते हैं, जिसका आशय यह है कि किसी भी व्यक्तिका जीवन जबतक समाप्त नहीं हो जाता तबतक उसके विषयमें मौन रहना ही उचित है। मुझे तो व्यक्तिका स्थूल चरित्र भूल जाने-जैसी ही बात मालूम होती है। मनुष्य ईश्वरकी लिखी हुई एक चिट्ठी है, एक सदेश है। चिट्ठीका मजमून देखना चाहिए। उसकी लबाई चौड़ाई और वजन देखनेसे मतलब नहीं है।

अभी यहा जो कार्यक्रम रहा, उसमें लड़कोने खासा उत्साह दिखाया। ऐसे कार्यक्रमोमे लडके हमेशा उत्साह और आनदसे शरीक होते हैं। परतु जो प्रौढ लोग यहा इकट्ठे हुए, उन्होने एकत्र बैठकर उत्साहसे सूत काता, यह कार्यक्रमका बहुत सुन्दर अग है। सालभरमें कई त्योहार आते हैं, उत्साह भी होते है। हम उस दिनके लिए कोई न कोई कार्यक्रम भी बना लेते हैं, परतु उसी दिनके लिए कार्यक्रम बनानेसे हम उस उत्सवसे पूरा लाभ नहीं उठा सकते। ऐसे अवसरापर शुरू किया हुआ कार्यक्रम हमे साल भर तक चलाना चाहिए। इसलिए यहा एकत्र हुई मडलीको मैंने यह सुझाया कि वे लोग आजसे अगले सालके इसी दिनतक रोज आध घटा नियमित रूपसे कातनेका सकल्प करें। अगर आप ऐसा शुभ निश्चय करेंगे तो उस निश्चयका पूरा करनेमे ईश्वर आपकी हर तरहसे सहायता करेगा। ईश्वर तो इसके इतजारमे ही रहता है कि कौन कब शुभ निश्चय करे और कब उसकी मदद करनेका सुयोग मुझे मिले। रोज नियमित रूपसे सूत कातिए। लेकिन इतना ही काफी नही है। उसका लेखा भी रखना चाहिए। यह लेखा लोगोके लिए नहा रखना है, अपने दिलको टटोलनेके लिए रखना है। निश्चय छोटा-सा ही क्यो न हो, मगर उसका पालन पूरा-पूरा होना चाहिए। हम ऐसा करेंगे तो उससे हमारा सकल्प-बल बढ़ेगा। यह शक्ति हमारे अदर भरी हुई है, लेकिन हमें उसका अनुभव नही होता। आत्म-शक्तिका अनुभव हमे नही होता, क्योकि कोई-न-कोई सकल्प करके उसे पूरा करनेकी आदत हम नही डालते। छोटे-छोटे ही सकल्प या निश्चय

कीजिए और उन्हे कार्यान्वित कीजिए तब आत्मशक्तिका अनुभव होने लगेगा।

दूसरी बात यह है कि गावमें जो काम हुआ है, उसके विवरणसे यह पता चलता है कि वे ही लोग काम करते हैं जिन्हें इस काममें शुरूसे दिलचस्पी रही। हमें इसकी जांच करनी चाहिए कि दूसरे लोग इसमे क्यो नही शामिल होते। कातनेवाले कातते हैं, इतना ही काफी नही है। इसका भी विचार करना चाहिए कि न कातनेवाले क्यो नहीं कातते। हमने अपना फर्ज अदा कर दिया इतना काफी है, ऐसा कहनेसे काम नहीं चलेगा। इसका भी चिंतन करना चाहिए कि यह चीज गावभरमें कैसे फैलेगी? इसमें असली दिक्कत यह है कि हम शायद ही कभी ऐसा मानकर व्यवहार करते हो कि सारा गाव एक है। जब आग लग जाती है, बाढ़ आती है या कोई छूतकी बीमारी फैलने लगती है, तभी हम सारे गावका विचार करते हैं। लेकिन यह तो अपवाद हुआ। हमारे नित्यके व्यवहारमे यह बात नही पाई जाती। जब किसीका स्पर्श-ज्ञान बिलकुल नष्ट होनेवाला होता है तो उसे मामूली स्पर्श मालूम ही नही पड़ता। जोरसे चुटकी काटिए तो थोड़ा-सा पता चलता है। यही हाल हमारा है। हमारा आत्म-ज्ञान बिलकुल मरणोन्मुख हो गया है।

पशुओंका आत्मज्ञान उनकी देहतक सीमित रहता है। वे अपनी सतान-को भी नहीं पहचानते। अलबत्ता मादाको कुछ दिनोतक यह ज्ञान होता है, क्योकि उसे दूध पिलाना पड़ता है। लेकिन यह पहचान भी तभीतक होती है जबतक वह दूध पिलाती रहती है। उसके बाद अक्सर वह भी भूल जाती है। नरको तो उतनी भी पहचान नही होती। कुछ जानवरोंमें तो बाप अपने बच्चेको खा जाता है। मनुष्य अपने बाल-बच्चोंको पहचानता है, इसलिए वह पशुसे श्रेष्ठ प्राणी माना जाता है। कौन-सा प्राणी कितना श्रेष्ठ है, इसका निश्चय उसके आकारसे नही होता। उसकी आत्मरक्षाकी शक्ति या युक्तिसे भी इसका पता नही चलता। उसका आत्मज्ञान कितना व्यापक है, इसीसे उसके बड़प्पनका हिसाब लगाया जा सकता है। दूसरे प्राणियोका आत्मज्ञान

उनके शरीरतक ही रहता है। जंगली मानी गई जातिके मनुष्यमें भी वह कम-से-कम उनके परिवारतक व्यापक होता है। जितनी कमाई होती है, वह सारे घरकी मानी जाती है। कुछ कुटुंबोंमें तो यह कौटुम्बिक प्रेम भी नहीं होता। भाई-भाई, पति-पत्नी और बाप-बेटोंमें झगड़े टंटे होते रहते हैं।

हिंदुस्तानमें फिर भी कौटुम्बिक प्रेम थोड़ा बहुत पाया जाता है। लेकिन कुटुम्बसे बाहर वह बहुत कम मात्रामें है। जब कोई भारी आपत्ति आ पड़ती है तो उतने समयके लिए सारा गाव एक हो जाता है। आम तौरपर कुटुम्बसे बाहर देखनेकी वृत्ति नही है। इसका यह मतलब हुआ कि हिंदुस्तानका आत्म-ज्ञान मौतकी तरफ बढ़ रहा है, इसलिए मेरा आपसे अनुरोध है कि समूचे गावको एक इकाई मानकर सारे गावकी चिंता कीजिए। यह गोपालकृष्णका मंदिर कौन-सा संदेश सुनाता है? इस मंदिरका मालिक गोपालकृष्ण है। उसके पास उसके सब बालकोंको जानेकी इजाजत होनी चाहिए। यह मंदिर हरिजनोंके लिए खोलकर आपने इतना काम किया है। किंतु मंदिर खोलनेका पूरा अर्थ समझकर 'इस गोपालकृष्णकी छत्रच्छायामें यह सारा गाव एक है', ऐसी भावनाका विकास कीजिए।

गावकी प्राथमिक आवश्यकताकी चीजे गावमे ही बननी चाहिए। अगर हम ऐसी चीजे बाहरसे लाने लगेंगे तो बाहरके लोगोंपर जुल्म होगा। जापान-की मिला और कारखानोंमें मजदूरोंका बारह-बारह घटे काम करना पड़ता है। कम-से-कम मजदूरीमें उनसे ज्यादा से-ज्यादा काम लिया जाता है। वे यह सब किस लिए करते हैं? हिंदुस्तानके बाजार अपने हाथमे रखनेके लिए। मगर उनकी भाषामे "हमारी आवश्यकताए पूरी करनेके लिए।" यह वहाके मालदार पूंजीपति करते हैं। वहाके गरीबोंका इसमें कोई फायदा नहीं। वहाके मालदार आदमियोंका भी कल्याण इसमें नहीं है और हमारा तो हरगिज नही है। हमारे उनका माल खरीदनेसे उन्हे जो पैसा मिलता है, उसका वे कैसा उपयोग करते हैं? उस पैसेसे वे बम बनाते हैं। उनकी बदौलत वे आज चीनको हरा रहे हैं। इंग्लैंड, जर्मनी आदि राष्ट्रोंका भी यही कार्यक्रम है। बाहरका माल खरीदकर हम इस प्रकार दुर्जनोंका लोभ बढ़ावे हैं, शस्त्रास्त्र

और गोला-बारूद बनानेके लिए पैसा देते हैं। इसका उपयोग राष्ट्र-के-राष्ट्र वीरान कर देनेके लिए हो रहा है।

बीस-बीस हजार फुटकी ऊंचाईपरसे बम गिराये जाते हैं। जर्मन लोग बड़े गर्वसे कहते है कि "हमने लंदनको बेचिराग कर दिया।" अंग्रेज कहते हैं, "हमने बर्लिनको भून डाला।" और हम लोग समाचारपत्रोंमें ये सब खबरें पढ़-पढ़कर मजे लेते है। औरते और बच्चे मर रहे हैं। मंदिर, विद्यालय और दवाखाने जमीदोज हो रहे है। लड़नेवालो और न लड़नेवालोंमें कोई फर्क नही किया जाता। क्या इन लडनेवालोंको हम पापी कहे? लेकिन हम पुण्यवान् कैसे साबित हो सकते हैं? हम ही तो उनका माल खरीदते हैं?

इस प्रकार हम दुर्जनोंको उनके दुष्ट कार्यमें सक्रिय सहायता देते हैं। यह कहना व्यर्थ है कि हम तो सिर्फ अपनी जरूरतकी चीजें खरीदते हैं, हम किसीकी मदद नही करते। खरीदना और बेचना केवल मामूली व्यवहार नही है। उनमे परस्पर दान है। हम जो खरीदार हैं और वे जो बेचनेवाले हैं, दोनो एक दूसरेकी मदद करते है। हम परस्परके सहयोगी है। एक दूसरेके पाप-पुण्यमें हमारा हिस्सा है। अमेरिका नकद सोना लेकर इंग्लैंडको सोना बेचता है तो भी यह माना जाता है कि वह इंगलैंडकी मदद करता है और अंग्रेज इस सहायताके लिए उसका उपकार मानते है। व्यापार-व्यवहारमे भी पाप-पुण्यका बड़ा भारी सवाल है। बैंकवाला हमे ब्याज देता है, लेकिन हमारे पैसे किसी व्यापारमे लगाता है। बैंकमे पैसे रखनेवाला उसके पाप-पुण्यका हिस्सेदार होता है। जिसका उपयोग पापके लिए होता हो, ऐसी कोई भी मदद करना पाप ही है। इसलिए अपने गावकी प्राथमिक आवश्यकताकी चीजें बनानेका कामभी दूसरोंको सौंपनेका मतलब यह है कि हम खुद परावलंबन और आलस्यका पाप करते हैं और दूसरोको भी पापमे डालनेमे सहायता करते हैं।

हिंदुस्तान और चीन दोनों बहुत बड़े देश है। उनकी जन-संख्या पचासी करोड़, यानी संसारकी जन-संख्याके आधे से कुछ ही कम है। इतने बड़े देश हैं, लेकिन सिवा नाजके इनमे और क्या उत्पन्न होता है? ये दो विराट्

लोक-सख्यावाले देश गैर मुल्कोंके मालके खरीदार हैं। चीनमें तो फिर भी कुछ माल तैयार होता है, पर हिंदुस्तानमे वह भी नहीं होता। हिंदुस्तान सवथा परावलबी है। हम समझते हैं कि हम तो अपनी जरूरतकी चीजें खरीदते हैं, हमसे मिले हुए पैसेका उपयोग जो लोग पापमे करते होंगे वे पापी हैं, हम कैसे पापी हुए? बौद्ध धर्मावलबी स्वय जानवरोंको मारना हिंसा समझते हैं, लेकिन कसाइके मारे हुए जानवरका मास खानेमे वे हिंसा नही मानते। उसी प्रकारका विचार यह भी है। हमें ऐसे भ्रममें नहीं रहना चाहिए। गाधीजी जब यह कहते हैं कि खादी और ग्रामोद्योग द्वारा प्रत्येक गावको स्वावलबी बनना चाहिए तब वे हरएक गावको सुखी बनाना चाहते हैं और साथ साथ दुर्जनोंसे लोगोंपर जुल्म करनेकी शक्ति भी छीन लेना चाहते हैं। इस उपायसे दुर्जन और उन्हे शक्ति देनेवाले आलसी लोग, दोनों पुण्यके रास्ते पर आयेगे।

हम अपने पैरोंपर खड रहनेमें किसीसे द्वेष नहीं करते। अपना भला करते हैं। अगर हम लकाशायर, जापान या हिंदुस्तानकी मिलोंका कपड़ा न खरीदें तो मिलवाले भूखो न मरेंगे। उनका पेट तो पहलेहीसे भरा हुआ है। बुद्धिमान होनेके कारण वे दूसरे कई धधे भी कर सकते हैं। लेकिन हम किसान ग्रामोद्योग खो बैठनेके कारण उत्तरोत्तर कगाल हो रहे हैं। इसके अलावा बाहरका माल खरीदकर हमने दुजनाका बल बढ़ाया है। दुजन सघटित होकर आज दुनियापर राज कर रहे हैं। इसके लिए हम सब तरहसे जिम्मेदार है।

वास्तवमे ईश्वरने दुजनाकी कोई अलग जाति नहीं पैदा की है। जब द्रव्यसग्रहकी धुन सवार हो जाती है तब जन्मसिद्ध सज्जन भी धीरे धीरे दुजन बनने लगता है। अगर हम स्वावलबी हो गये, हमारे गाव अपने उद्योगके बल अपने पैरोंपर खड हो सके, तो सज्जनको दुर्जन बनानेवाली लोभ वृत्तिकी जड़ें ही उखड़ जायगी और आज जो सत्ताधारी बनकर बैठे हैं, उनकी लोगोंपर जुल्म करनेकी शक्ति निन्यानबे फीसदी गायब हो जायगी। "लेकिन जुल्म करनेकी जो एक प्रतिशत शक्ति शेष रह जायगी, उसका क्य

इलाज है !" निन्यानबे प्रतिशत नष्ट हो जानेके बाद बाकी रहा हुआ एक प्रतिशत अपने-आप मुरझा जायगा। लेकिन जैसे चिराग बुझनेके वक्त ज्यादा भभकता है उसी तरह अगर यह एक प्रतिशत जोर मारे तो हमें उसका प्रतिकार करना पड़ेगा।

इसके लिए सत्याग्रहके शस्त्रका आविष्कार हुआ है। दुर्जनोंसे हमे द्वेष नहीं करना है, पर दुर्जनताका प्रतिकार अपनी पूरी ताकतसे करना है। आज तक दुर्जनोंकी सत्ता जो ससारमे चलती रही इसका सबब यह है कि लोग दुर्जनोंके साथ व्यवहार करनेके दो ही तरीके जानते थे। 'लोग' शब्दसे मेरा मतलब है 'सज्जन कहे जानेवाले लोग।' या वे 'झगड़ेका मुह काला' कहकर निष्क्रिय होकर बैठ जाना जानते थे, या फिर दुर्जनोंसे दुर्जन होकर लड़ते थे। जब मैं दुर्जनसे उसीका शस्त्र लेकर लड़ने लगता हू तो उसमे और मुझमे जो भेद है, उसे बतानेका इसके सिवा दूसरा तरीका ही नहीं है कि मैं अपने माथेपर 'सज्जन' शब्द लिखकर एक लेबिल चिपका लूं, और जब मैं उसका शस्त्र बरतता हू तो अपने शस्त्रके प्रयोगमे वही अधिक प्रवीण होगा, अर्थात् मेरी किस्मतमे पराजय तो लिखी ही है। या फिर मुझे सवाया दुर्जन बनकर उसको मात करना चाहिए। जो थोड़े बहुत सज्जन थे, वे इस 'दुष्ट चक्र' से डरकर निष्क्रिय होकर चुपचाप बैठ जाते थे। इन दोनो पगडंडियोंको छोड़कर हमे सत्याग्रहसे यानी स्वय कष्ट सहकर, अन्यायका प्रतिकार करना चाहिए और अन्याय करनेवालेके प्रति प्रेमभाव रखना चाहिए, ऐसा यह अभग शस्त्र हमे प्राप्त हुआ है। इसी शस्त्रका वर्णन करते हुए ज्ञानदवने कहा है, "अगर मित्रतासे ही वैरी मरता हो तो नाहक कटार क्यों बाधे ?" गीता कहती है, "आत्मा अमर है, मारनेवाला बहुत करेगा तो हमारे शरीरको मारेगा, हमारी आत्माको, हमारे विचारको वह नहीं मार सकता।" यह गीताकी सिखावन ध्यानमें रखते हुए सज्जनोंको निर्भयता और निर्वैर-बुद्धिसे प्रतिकारके लिए तैयार हो जाना चाहिए।

दुर्जनोंकी निन्यानबे प्रतिशत शक्ति नष्ट करनेका काम खादी और ग्रामोद्योगका है। निन्यानबे प्रतिशत जनताके लिए यही कार्यक्रम है। शेष एक प्रति-

शत काम अहिंसक प्रतिकारका है। यदि पहला सुचारु रूपसे हो जाय तो दूसरेकी जरूरत ही न पड़नी चाहिए। और अगर जरूरत पड़े ही तो उसके लिए जनसख्याके एक प्रतिशतकी भ आवश्यकता न होनी चाहिए। थोड़ेसे निर्भय, निर्वैर और आत्मज्ञ पुरुषों द्वारा यह काम हो सकता है। मैं समझता हूं, इन बातोंमे गाधी जयतीका सारा सार आ जाता है। [२-१०-४०

४०

सेवाका आचार-धर्म

सहनाववतु। सहनौ भुनक्तु।
सहवीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु।
मा विद्विषावहै। ॐ शाति शाति शाति ॥

मैंने आज अपने भाषणका आरभ जिस मत्रसे किया है वह मंत्र हमारे देशके लोग पाठशालामें अध्ययन शुरू करते समय पढा करते थे। मंत्र गुरु और शिष्यके मिलकर कहनेके लिए है। "परमात्मा हम दानोंका एक साथ रक्षण करे। एक साथ पालन करे। हम दोनो जो कुछ सीखें वह, हम दोनाकी शिक्षा, तेजस्वी हो। हम दोनामें द्वष न रहे। और सवत्र शाति रहे। यह इस मत्रका सक्षिप्त अथ है। आश्रममें भोजनके प्रारभमें यही मत्र पढा जाता है। अन्यत्र भी भोजन आरभ करते समय इसे पढनेकी प्रथा है। 'इस मत्रका भोजनस क्या सबध है? इसक बदले कोई दूसरा भोजनके समय पढ़ने योग्य मत्र क्या खोजा ही नही जा सकता?' यह सवाल एक बार बापूसे किया गया था। उन्हाने वह मेरे पास भेज दिया था। मैंने एक पत्रमें उसका विस्तारसे उत्तर दिया है। वही मैं थोड़में यहा कहनेवाला हू।

इस मत्रमें समाज दो भागोंमें बाटा गया है और ऐसी प्रार्थना की गई है कि परमात्मा दानोंका एक साथ रक्षण करे। भोजनके समय इस मंत्रका उच्चार अवश्य करना चाहिए, क्योंकि हमारा भोजन केवल पेट भरनेके लिए ही नहीं

है, ज्ञान और सामर्थ्यकी प्राप्तिके लिए है। इतना ही नहीं, इसमें यह भी मांग की गई है कि हमारा वह ज्ञान, वह सामर्थ्य और वह भोजन भगवान् एक साथ कराये। इसमें केवल पालनकी प्रार्थना नहीं है। एक साथ पालनकी प्रार्थना है। पाठशालामें जिस प्रकार गुरु और शिष्य होते हैं, उसी प्रकार सर्वत्र द्वैत है। परिवारमें पुरानी और नई पीढ़ी, समाजमें स्त्री पुरुष, वृद्ध-तरुण, शिक्षित अशिक्षित आदि भेद हैं। उसमें फिर गरीब-अमीरका भेद भी है। इस प्रकार सर्वत्र भेद दृष्टि आती है। हमारे इस हिंदुस्तानमें तो असंख्य भेद हैं। यहां प्रांत भेद हैं। यहांका स्त्री वर्ग बिलकुल अपंग रहता है। इस लिए यहां स्त्री पुरुषमें भी बहुत भेद बढ़ा है। हिंदू और मुसलमानका भेद तो प्रसिद्ध ही है। परंतु हिंदू हिंदूमें भी, हरिजनों और दूसरोंमें भी भेद है। हिंदुस्तानकी तरह ये भेद संसारमें भी हैं। इसलिए इस मंत्रमें यह प्रार्थना की गई है कि हमें 'एक साथ तार, एक साथ मार।" मारनेकी प्रार्थना प्रायः कोई नहीं करता। इसलिए यहां एक साथ तारनेकी प्रार्थना है। लेकिन "यदि मुझे मारना ही हो तो कम से कम एक साथ मार", ऐसी प्रार्थना है। सारांश हमें दूध देना है तो एक साथ दे, सूखी रोटी देना है तो भी एक साथ दे, हमारे साथ जो कुछ करना है वह सब एक साथ कर", ऐसी प्रार्थना इस मंत्रमें है।

देहातके लोग यानी किसान और शहराती, गरीब और अमीर, इनका अंतर जितना कम होगा उतना ही देशका कदम आगे बढ़ेगा। अंतर दो तरहसे मिट जा सकता है। ऊपरवालोंके नीचे उतरनेसे और नीचेवालोंके ऊपर चढ़नेसे। परंतु दोनों ओरसे यह नहीं होता। हम सेवक कहलाते हैं लेकिन किसान मजदूरोंकी तुलनामें तो चोटीपर ही हैं।

लेकिन सवाल तो यह है कि भोग और ऐश्वर्य किसे कहें? मैं अच्छा स्वादिष्ट भोजन करूं और पड़ोसमें ही दूसरा भूखों मरता रहे, इसे? उसकी नजर बराबर मेरे भोजनपर पड़ती रहे और मैं उसकी परवाह न करूं? उसके आक्रमणसे अपनी थालीकी रक्षा करनेके लिए एक डंडा लेकर बैठूं? मेरा स्वादिष्ट भोजन और डंडा तथा उसकी भूख, इसे ऐश्वर्य मानें? एक सज्जन

आकर मुझसे कहने लगे कि "हम दो आदमी एकत्र भोजन करते हैं, परतु हमारी निभ नहीं सकती। मैंने अब अलग भोजन करनेका निश्चय किया है।' मैंने पूछा, "सो क्यों?' उन्होंने जवाब दिया, "मैं नारगिया खाता हूं, वह नहीं खाते, वह मजदूर हैं, इसलिए वह नारगिया खरीद नहीं सकते। अत उनके साथ खाना मुझे अनुचित लगता है।" मैंने पूछा,—"क्या अलग घरम रहनेस उनके पेटमें नारगिया चली जायगी? आप दोनोमे जो व्यवहार आज हो रहा है वही ठीक है। जबतक दोनो एक साथ खाते हैं तबतक दोनों-के निकट आनेकी सभावना है। एकाध बार आप उनसे नारगिया लेनेका आग्रह भी करेंगे। लेकिन यदि आप दोनाके बीच सुरक्षितताकी दीवार खड़ी कर दी गई तो भेद चिरस्थायी हो जायगा। दीवारको सुरक्षितताका साधन मानना कसा भयकर है! हिंदुस्तानमे हम सब कहते हैं, हमारे सतोंने पुकार पुकारकर कहा है कि ईश्वर सर्वसाक्षी है, सवत्र है। फिर दीवारकी ओटमे छिपनेस क्या फायदा? इससे दोनोका अतर थोड़े ही घटगा।"

यही हाल हम खादी धारियाका भी है। जनताके अदर अभी खादीका प्रवेश ही नहीं हुआ है। इसलिए जितने खादीधारी है वे सब सेवक ही हैं। यह कहा जाता है कि हमे और आपको गावामे जाना चाहिए। लेकिन देहातमें जानेपर भी, वहाके लोगोको जहा सूखी रोटी नही मिलती वहा मैं पूरी खाता हू। मेरा घी खाना उस भूखेको नहीं खटकता। आज भी किसान कहता है कि अगर मुझे पटभर रोटी मिल जाय तो तेरे घीका मुझे ईर्ष्या नहीं। मुझे तेल ही मिलता रहे तो भी सतोष है। यह भेद उस भले ही न अखरता हो, मगर हम सेवकोको बहुत अखरता है। लेकिन इस तरह कबतक चलता रहगा? पारसाल मैं एक खासा दुबला-पतला जीव था। इस साल मुटा गया हूं। मुझे यह मुटापा खटकता है। मैं भी उन्ही लोगों जैसा दुबला पतला हू, यह सतोष अब जाता रहा।

इस टगी हुई तखती पर लिखा है कि आवश्यकताए बढ़ाते रहना सभ्यता-का लक्षण नही है बल्कि आवश्यकताओंका सस्करण सभ्यताका लक्षण है। तो भी मैं कहता हू कि देहातियोंकी आवश्यकताए बढ़ानी चाहिए। उन्हें

सुधारना भी चाहिए। लेकिन उनकी आवश्यकताएं आज तो पूरी भी नहीं होतीं। उनका रहन-सहन बिल्कुल गिरा हुआ है। उनके जीवनका मान बढ़ाना चाहिए। मोटे हिसाबसे तो यही कहना पड़ेगा कि आज हमारे गरीब देहातियोंकी आवश्यकताएं बढ़ानी चाहिए।

यदि हम गांवोंमे जाकर बैठे हैं ता हमें इसके लिए प्रबल प्रयत्न करना चाहिए कि ग्रामवासियोंका रहन-सहन ऊपर उठे और हमारा नीचे उतरे। लेकिन हम जरा-जरा-सी बातें भी तो नहीं करते। महीना-डेढ़-महीना हुआ, मेरे पैरमे चोट लग गई। किसीने कहा, उसपर मरहम लगाओ। मरहम मेरे स्थानपर आ भी पहुचा। किसीने कहा, मोम लगाओ, उससे ज्यादा फायदा होगा। मैंने निश्चय किया कि मरहम और मोम दोनों आखिर मिट्टीके ही वगके तो है। इसलिए मिट्टी लगा ली। अभी पैर बिल्कुल अच्छा नहीं हुआ है, लेकिन अब मजेमे चल सकता हू। हमें मरहम जल्दी याद आता है, लेकिन मिट्टी लगाना नहीं सूझता। कारण, उसमे हमारी श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं।

हमारे सामने इतना बड़ा सूर्य खड़ा है। उसे अपना नंगा शरीर दिखानेकी हमें बुद्धि नहीं होती। सूर्यके सामने अपना शरीर खुला रखो, तुम्हारे सारे रोग भाग जायंगे। लेकिन हम अपनी आदत और शिक्षासे लाचार हैं। डाक्टर जब कहेगा कि तुम्हे तपेदिक हो गया, तब वही करेंगे।

हम अपनी जरूरते किस तरह कम रखकेंगे, इसकी खोज करनी चाहिए। मैं यहां सन्यासीका धर्म नहीं बतला रहा हू। खासे सद्गृहस्थका धर्म बतला रहा हू। ठंडी आब-हवावाले देशोंके डाक्टर कहते हैं कि बच्चोंकी हड्डिया बढ़ानेके लिए उन्हे 'कॉड लिवर आयल" दो। जहा सूर्य नहीं है, ऐसे देशोंमे दूसरा उपाय ही नही है। कॉड लिवरके बिना बच्चे मोटे-ताजे नहीं होंगे। यहां सूर्यदर्शनकी कमी नहीं। यहा यह "महा कॉड लिवर आयल" भरपूर है। लेकिन हम उसका उपयोग नहीं करते। यह हमारी दशा है। हमें लंगोटी लगानेमे शर्म आती है। छोटे बच्चोंपर भी हम कपडेकी बाइंडिंग (जिल्द) चढ़ाते हैं। नंगे बदन रहना असभ्यताका लक्षण माना जाता है। वेदोंमें प्रार्थना की गई है कि "मा नः सूर्यस्य सन्दृशो युयोथाः।" हे ईश्वर, मुझे

सूर्य दर्शनसे दूर नर ख।" वेद और विज्ञान दोनों कहते हैं कि खुल शरीर रहो। कपडेकी जिल्दमें कल्याण नहीं। हम अपने आचारसे ये विनाशक चीजें गांव में दाखिल न करें। हम देहातमें जानेपर भी अपने बच्चोंको आधी या पूरी लबाईका पतलून पहनाते हैं। इसमें उन बच्चोका कल्याण तो है ही नहीं उलटे एक दूसरा अशुभ परिणाम यह निकलता है कि दूसरे बच्चोंमें और उनम भेद पैदा हो जाता है। या फिर दूसरे लोगोको भी अपने बच्चोंको सजानेका शौक पैदा हो जाता है। एक फिजूलकी जरूरत पैदा हो जाती है। हमे देहातामे जाकर अपनी जरूरतें कम करनी चाहिए। यह विचारका एक पहलू हुआ।

देहातकी आमदनी बढ़ाना इस विचारका दूसरा पहलू है। लेकिन वह कैसे बढाई जाय? हममें आलस्य बहुत है। वह महान् शत्रु है। एकका विशेषण दूसरेको जाड़ देना साहित्यमे एक अलकार माना गया है। "कहे लड़कीसे, लगे बहूको, इस अर्थकी जा कहावत है उसका भी अर्थ यही है। बहूको यदि कुछ जली-कटी सुनानी हो तो सास अपनी लड़कीको सुनाती है। उसी तरह हम कहते है, "देहाता लोग आलसी हो गए। दरअसल आलसी तो हम है। यह विशेषण पहले हमे लागू होता है। हम इसका उनपर आरोप करते है। बेकारीके कारण उनके शरीरमें आलस्य भले ही भिद गया हो, परतु उनके मनमे आलस्य नही है। उन्हे बेकारीका शौक नही है। लेकिन यदि सच कहा जाय तो हम कायकर्त्ताओंके तो मनमें भी आलस्य है और शरारमें भी। आलस्य हिंदुस्तानका महारोग है। यह बीज है। दाहरी महारोग इसका फल है। हमें इस आलस्यको दूर करना चाहिए। सेवकको सारे दिन कुछ न-कुछ करते रहना चाहिए। आर कुछ न हो तो गावकी परिक्रमा ही करे। और कुछ न मिले तो हड्डिया ही बटोरे। यह भगवान् शकरका कायक्रम है। हड्डिया इकट्ठी करके चर्मालयमे भेज दे। इससे आशुतोष भगवान् शकर प्रसन्न होंगे। या एक बाल्टीमें मिट्टी लेकर रास्तेपर जहा जहा खुला हुआ मैला पड़ा हो उसपर डालता फिरे। अच्छी खाद बनेगी। इसके लिए कोई खास कौशलकी जरूरत नहीं।

हमारे सेनापति बापटने एक कवितामें कहा है कि झाड़ू, खपरैल और खुरपा, ये औजार धन्य हैं।" ये कुशल औजार हैं। जिस औजारका उपयोग अकुशल मनुष्य भी कर सकता है, उसे बनानेवाला अधिक-से-अधिक कुशल होता है। जिस औजारके उपयोगके लिए कम-से-कम कुशलताकी जरूरत हो, वह अधिक-से-अधिक कुशल औजार है। खपरैल और झाड़ू ऐसे ही औजार हैं। झाड़ू सिर्फ फिरानेकी देर है, भू माता स्वच्छ हो जाती है। खपड़ियामें जरा भी आनाकानी किये बिना मैला आ जाता है। यंत्रशास्त्रके प्रयोग इस दृष्टिसे होने चाहिएं। खपरैल, खुरपा और झाड़ूके लिए पैसे नहीं देने पड़ते। इसलिए ये सीधे-साधे औजार धन्य हैं!

रामदासने अपने 'दासबोध'मे सुबहसे शामतककी दिनचर्या बतलाते हुए कहा है कि सवेरे शौच-क्रियाके लिए बहुत-दूर जाओ और वहांसे लौटते हुए कुछ-न-कुछ लेते आओ। वह कहते हैं कि खाली हाथ आना खोटा काम है। सिर्फ हाथ हिलाते नहीं आना चाहिए। कोई-कोई कहते हैं कि हम तो हवा खाने गए थे। लेकिन हवा खानेका कामसे विरोध क्यों हो? कुदालीसे खोदते हुए क्या नाक बंद कर ली जाती है? हवा खाना तो सदा चालू ही रहता है। परंतु श्रीमान् लोग हमेशा बिना हवावाली जगहमें बैठे रहते हैं। इसलिए उनके लिए हवा खाना भी एक काम हो जाता है। मगर कार्यकर्त्ता-को सदा खुली हवामें काम करनेकी आदत होनी चाहिए। वापस आते हुए वह अपने साथ कुछ-न-कुछ जरूर लाया करे। देहातमे वह दतुअन ला सकता है। लीपनेके लिए गोबर ला सकता है और अगर कुछ न मिले तो कम-से-कम किसी एक खेतके कपासके पेड़ ही गिनकर आ सकता है, यानि फसलका ज्ञान अपने साथ ला सकता है। मतलब, उसे फिजूल चक्कर नहीं काटने चाहिए। देहातमे काम करनेवाले ग्राम-सेवकोंको सुबहसे लेकर शामतक कुछ-न-कुछ करते ही रहना चाहिए।

लोगोंकी शक्ति कैसे बढ़ेगी, इसके विषयमें अब कुछ कहूंगा। देहातमें बेकारी और आलस्य बहुत है। देहातके लोग मेरे पास आते और कहते हैं, "महाराज हम लोगोंका बुरा हाल है। घरमें चार खानेवाले मुंह हैं।" न

जाने वे मुझे 'महाराज' क्यों कहते हैं ? मेरे पास कौन-सा राज धरा है ? मैं उनसे पूछता हूं, "अरे भाई, घरमें अगर खानेवाले मु ह न हों तो क्या बगैर खानेवाले हो ? बगैर खानेवाले मु ह तो मुर्दोंके होते हैं। उन्हें तो तुरत बाहर निकालना होता है। तुम्हारे घरमे चार खानेवाले मु ह हैं, यह तो तुम्हारा वैभव है। वे तुम्हे भार क्यों हो रहे हैं ? भगवान्ने आदमीको अगर एक मु ह दिया है तो उसके साथ साथ दो हाथ भी तो दिये हैं। अगर वह एक समूचा मु ह और आधा ही हाथ देता तो अलबत्ता मुश्किल थी। तुम्हारे यहां चार मु ह हैं तो आठ हाथ भी तो हैं। फिर भी शिकायत क्यों ? लेकिन हम उन हाथोका उपयोग करे तब न ?" हमे तो हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहनेकी आदत हा गई है, हाथ जाडनेकी आदत हो गई है। जब हाथ चलना बद हो जाता है तो मु ह चलना शुरू हो जाता है। फिर खानेवाले मु ह आदमीको ही खाने लगते है।

हमे अपने दोनो हाथासे एक-सा काम करना चाहिए। पौनारमे कुछ लड़के कातने आते हैं। उनसे कहा, "बाये हाथसे कातना शुरू करो।" उन्होने यहीस कहना शुरू किया कि "हमारी मजदूरी कम हो जायगी। बाया हाथ दाहिनेकी बराबरी नहीं कर सकेगा।" मैंने कहा, "यह क्यो ? दाहिने हाथमे अगर पाच अगुलिया है तो बाये हाथमे भी तो है। फिर क्यो नही बराबरी कर सकेगा ?" निदान, मैंने उनमेसे एक लडका चुन लिया और उससे कहा कि "बाये हाथस कात।" उसे जितनी मजदूरी कम मिलेगी उतनी पूरी कर दनेका जिम्मा मैने लिया। चोदह रोजमे वह साढे चार रुपया कमाता था। बायें हाथसे पहले पखवाड़मे ही उसे करीब तीन रुपये मिले। दूसरे पाखमें बाया हाथ दाहिनेकी बराबरी पर आ गया। एक रुपया मैंने अपनी गिरहसे पूरा किया। लेकिन उससे सबकी आखे खुल गई। यह कितना बड़ा लाभ हुआ ? मैंने लड़कोसे पूछा, "क्यो लड़को, इसमें फायदा है कि नही ?" वे कहने लगे, "हा, क्यों नही ?" दाहिना हाथ भी तो आठ घटे लगातार काम करनेमें धीरे धीरे थकने लगता है। अगर दोनो हाथ तैयार हो तो अदल बदल कर सकते हैं और थकावट बिलकुल नही आती। अठाईस-के-अठाईसों

लड़के बायें हाथका प्रयोग करनेके लिए तैयार हो गये।

शुरू-शुरूमें हाथमें थोड़ा दर्द होने लगता है। लेकिन यह सात्त्विक दर्द है। सात्त्विक सुख ऐसा ही होता है। अमृत भी शुरू-शुरूमें जरा कड़आ ही लगता है। पुराणोंका वह एकदम मीठा-ही-मीठा अमृत वास्तविक नहीं। अमृत अगर, जैसा कि गीतामें कहा है, सात्त्विक हो तो वह मीठा-ही-मीठा कैसे हो सकता है? गीतामें बताया हुआ सात्त्विक सुख तो प्रारंभमें कड़ुवा ही होता है। मेरी बात मानकर लड़कोंने तीन महीनेतक सिर्फ बायें हाथसे कातनेका प्रयोग करनेका निश्चय किया। तीन महीने मानो दाहिने हाथको बिलकुल भूल ही गये। यह कोई छोटी तपस्या नहीं हुई।

देहातमें निंदाका दोष काफी दिखलाई देता है। यह बात नहीं कि शहरके लोग इससे बरी हैं। लेकिन यहां मैं देहातके ही विषयमें कह रहा हूं। निंदा सिर्फ पीठ-पीछे जिंदा रहती है। उससे किसीका भी फायदा नहीं होता। जो निंदा करता है उसका मुंह खराब होता है और जिसकी निंदा की जाती है उसकी कोई उन्नति नहीं होती। मैं यह जानता तो था कि देहातियोंमें निंदा करनेकी आदत होती है, लेकिन यह रोग इतने उग्र रूपमें फैल गया होगा, इसका मुझे पता न था। इधर कुछ दिनोंसे मैं सत्य और अहिंसाके बदले सत्य और अनिंदा कहने लगा हूं। हमारे संतोंकी बुद्धि बड़ी सूक्ष्म थी। उनके वाङ्मयका रहस्य अब मेरी समझमें आया। वे देहातियोंसे भली भांति परिचित थे, इसलिए उन्होंने जगह-जगह कहा है कि निंदा न करो, चुगली न खाओ। संतोंके लिए मेरे मनमें छुटपनसे ही भक्ति है। उनके किये हुए भक्ति और ज्ञानके वर्णन मुझे बड़े मीठे लगते थे। लेकिन मैं सोचता था कि 'निंदा मत करो' कहनेमें क्या बड़ी विशेषता है। उनकी नीति-विषयक कविताएं मैं पढ़ता तो था, लेकिन वे मुझे भाती न थीं। परस्त्रीको माताके समान समझो, पराया माल न छुओ, और निंदा न करो—इतनेमें उनकी नैतिक शिक्षाकी पूंजी खत्म हो जाती थी। भक्ति और ज्ञानके साथ-साथ उसी श्रेणीमें वे इन चीजोंको भी रखते थे। यह मेरी समझमें न आता था। लेकिन अब खूब अच्छी तरह समझ गया हूं। निंदाका दुर्गुण उन्होंने लोगोंकी नस-नसमें

पैठा हुआ देखा, इसलिए उन्होंने अनिंदापर बार-बार इतना जोर दिया और उसे बड़ा भारी सद्गुण बतलाया। कार्यकर्त्ताओंको यह शपथ ले लेनी चाहिए कि हम न तो निंदा करेंगे और न सुनेंगे। निंदामें अक्सर गलती और अत्युक्ति होती है। साहित्यमें अत्युक्ति भी एक अलंकार माना गया है। ससारको चौपट कर दिया है इन साहित्यवालोंने। वस्तुस्थिति-को तिगुना, दसगुना, बीसगुना, बढाकर बताना उनके मतसे अलंकार है। तो क्या जो चीज जैसी है उसे वैसी ही बताना अपनी नाक काटने के समान है? कथाकार और प्रवचनकारकी अत्युक्तिका कोई ठिकाना ही नहा। एकको सोगुना बढ़ानेका नाम अतिशयोक्ति है, ऐसी उसकी कोई नाप होती तो अतिशयोक्तिसे वस्तुस्थितिकी कल्पना कर सकते। लेकिन यहा तो कोई हिसाब ही नहीं है। वे एकका सोगुना नहीं करते बल्कि शून्यको सोगुना बढ़ाते हैं। सुनता हूं, सौ अनतका गुणा करनेसे कोई एक अक आता है, लेकिन यह तो गणितज्ञ ही जाने।

तीसरी बात जो मैं आप लोगोसे कहना चाहता हू वह है सचाई। हमारे कार्यकर्ताओंमे स्थूल अथमे सचाई है, सूक्ष्म अर्थमे नहीं। अगर मैं किसीसे कहू कि तुम्हारे यहा सात बजे आऊगा तो वह पाच ही बजेसे मुझे लेनेके लिए मेरे यहा आकर बैठ जाता है, क्योकि वह जानता है कि इस देशमें जो कोई किसी खास वक्त आनेका वादा करता है, वह उस वक्त आयेगा ही इसका कोई नियम नही। इसलिए वह पहलेसे ही आकर बैठ जाता है। सोचता है कि दूसरेके भरोसे काम नहा बनता। इसलिए हमें हमेशा बिल्कुल ठीक बोलना चाहिए। किसी गाववालेसे आप कोई काम करनेके लिए कहिए तो वह कहेगा, 'जी हा'। लेकिन उसके दिलमें वह काम करना नहीं होता। हमे टालनेके लिए 'जी हा' कह देता है। उसका मतलब इतना ही रहता है कि अब ज्यादा तग न कीजिए। 'जी हा' से उसका मतलब है कि यहासे तशरीफ ले जाइए। उसके 'जी हा' में थोड़ा अहिंसाका भाव होता है। वह 'आगे बढ़िए' कहकर आपके दिलको चोट पहुंचाना नहीं चाहता। आपको वह ज्यादा तकलीफ नहीं देना चाहता। इसलिए 'जी हा' कहकर जान बचा

लेता है।

इसलिए कोई भी बात जो हम देहातियोंसे कराना चाहें वह उन्हें समझा भर देनी चाहिए। उनसे शपथ या व्रत नहीं लिवाना चाहिए। जबसे मैं देहातमें गया तबसे किसीसे किसी बातके विषय मे वचन लेनेसे मुझे चिढ़-सी हो गई है। अगर मुझसे कोई कहे भी कि मै यह बात करूंगा तो मैं उससे यही कहूंगा कि "यह तुम्हे जंचती है न? बस, तो इतना काफी है। वचन देनेकी जरूरत नहीं। तुमसे हो सके तो करो।' लोगोको उसकी उपयोगिता समझाकर संतोष मान लेना चाहिए। क्योंकि किसीसे कोई काम करनेका वचन लेनेके बाद उस कामके कराने की जिम्मेदारी हमपर आ जाती है। अगर वह अपना वचन पूरा न करे तो हम अप्रत्यक्ष रूपसे झूठ बोलनेमें सहायता करते है। राजकोट-प्रकरण और क्या चीज है? अगर कोई हमारे सामने किसी विषयमे वचन द दे और फिर उसे पूरा न करे तो इसमे हमारा भी अधःपतन होता है। इसलिए बापूको राजकोटमे इतना सारा प्रयास करना पड़ा। इस-लिए वचन, नियम या व्रतमे किसीको बांधना नही चाहिए और अगर किसीसे वचन लेना ही पडे तो वह वचन अपना समझकर उसे पूरा करानेकी सावधानी पहले रखनी चाहिए। उसे पूरा करनेमे हर तरहसे मदद करनी चाहिए। सच्चाईका यह गुण हमारे अंदर होना चाहिए।

बाइबलमे कहा है, "ईश्वर की कसम न खाओ"। आपके दिलमे 'हां' हो तो हा कहिए और 'ना' हो तो ना कहिए। लेकिन हमारे यहा तो रामदुहाई भी काफी नहीं समझी जाती। कोई भी बात तीन बार वचन दिये बिना पक्की नही मानी जाती। सिर्फ 'हां' कहनेका अर्थ इतना ही है कि "आपकी बात समझमे आ गई। अब देखेंगे, विचार करेंगे"। किसी मजबूत पत्थरपर एक दो चोट लगाइए तो उसे पता भी नही चलता। दस-पाच मारिए, तब वह सोचने लगता है कि शायद कोई व्यायाम कर रहा है। पचास चोटें लगाइए तब कहीं उसे पता चलता है कि "अरे, यह व्यायाम नही कर रहा है। यह-तो मुझे फोडने जा रहा है।" एक बार हां कहनेका कोई अर्थ ही नही। दो बार कहनेपर वह सोचने लगता है कि मैंने हां कर दी है। और जब तीसरी बार

हा कहता है तब उसके ध्यानमे आता है कि मैने जान-बूझकर हा कही है। कुलका अर्थ इतना ही है कि सूक्ष्म दृष्टिसे झूठ हमारी नस नसमें भिद गया है। इसलिए कार्यकर्त्ताओको अपने लिए यह नियम बना लेना चाहिए कि जो बात करना कबूल करे उसे करके ही दम ले। इसमें तनिक भी गलती न करें। दूसरेसे कोई वचन न ले। उस झझटमे न पड़े।

अब कार्यकर्त्ताओसे कार्य कुशलताके बारेमें दो एक बातें कहना चाहता हू। जब हम कार्य करने जाते है तो चालू पीढीके बहुत पीछे पड़ते है। चालू पीढीमे तो विशेषण ही 'चालू' है। वह चलती चीज है। उसकी सेवा कीजिए। लेकिन उसके पीछे न पड़िए। उसके शरीरके समान उसका मन और उसके विचार भी एक साचेमे ढले हुए होते हैं। जो नई बात कहना हो वह नोजवानोसे कहनी चाहिए। तरुणोके विचार और विकार दोनो बलवान् होते है। इसलिए कुछ लोग उन्हे उच्छृखल भी कहते हैं। इसमे सचाई इतनी ही है कि वे बलवान् और वेगवान् होते हैं। अगर उनके विचार बलवान् हो सकते है तो वैराग्य भी जबरदस्त हो सकता है। जैसे-जैसे उम्र बढती है वैसे वैसे विकारोका शमन होता जाता है। मोटे हिसाबसे यह सच है। लेकिन इसका कोई भरोसा नही। यह कोई शास्त्र नही है। हमारी बात चालू पीढीको अगर जचे तो अच्छा ही है, और न जचे तो भी कोई हानि नहीं। भावी पीढीका हाथमे लेना चाहिए। युवक ही नए-नए कामोमे हाथ डालते है, बूढे नही। विकार किस तरह बढ़ते या घटते है, यह मैं नहीं जानता। लेकिन इतना तो मानना पड़ेगा कि वृद्धोकी अपेक्षा तरुणों-में आशा और हिम्मत ज्यादा होती है।

दूसरी बात यह है कि कार्य शुरू करते ही उसके फलकी आशा नहीं करनी चाहिए। पाच दस साल काम करनेपर भी कोई फल न होता देखकर निराश न होना चाहिए। हिंदुस्तानके लोग हजार सालके बूढे हैं। जब किसी गावमें कोई नया कार्यकर्त्ता जाता है तो वे सोचते हैं कि ऐसे तो कई देख चुके हैं। साधु सत भी आये और चले गये। नया कार्यकर्त्ता कितने दिन टिकेगा, इसके विषयमें उन्हे सदेह होता रहता है। अगर एक-दो साल टिक

गया तो वे सोचते हैं कि शायद टिक भी जाय। अनुभवी समाज है। वह प्रतीक्षा करता रहता है। अगर लोग अपनी या हमारी मृत्युतक भी राह देखते रहें तो कोई बड़ी बात नहीं।

ग्रामवासियासे 'समरस' होनेका ठीक-ठीक मतलब समझना चाहिए। उनका रंग हमपर भी चढ़ जाये, इसका नाम उनसे मिलना नहीं है। इस तरह मिलनेसे तद्रूपता आने लगती है। मेरे मतसे समाजके प्रति आदरका जितना महत्त्व है उतना परिचयका नहीं। समाजके साथ समरस होनेसे उसका लाभ ही होगा, अगर हम ऐसा मानें तो इसमें अहंकार है। हम कोई पारस पत्थर हैं कि हमारे केवल स्पर्शसे समाजकी उन्नति हो जायगी ? केवल समाजसे समरस होनेसे काम होगा, यह माननेमें जड़ता है। रामदास कहते है, "मनुष्यको ज्ञानी और उदासीन होना चाहिए। समुदायको हौसला रखना चाहिए लेकिन अखंड और स्थिर होकर एकांत सेवन करना चाहिए।" वे कहते है कि, 'काई जल्दी नहीं है। शांतिसे अखंड एकांत-सेवन करो।" एकांत सेवनसे आत्म परीक्षणका मौका मिलता है। लोगोंसे किस हदतक संपर्क बढ़ाया जाय, यह ध्यानमें आता है। अन्यथा अपना निजी रंग न रह कर उसपर दूसरे रंग चढ़ने लगते है। कार्यकर्ता फिर देहातियोंके रंगका ही हो जाता है। उसके चित्तमें व्याकुलता पैदा होती है और वह ठीक होती है। फिर उसका जी चाहता है कि किसी वाचनालय या पुस्तकालयकी शरण लू। एकाध बड़े आदमीके पास जाकर कहने लगता है कि मैं दो-चार महीने आपका सत्संगत करना चाहता हू। फिर वे महादेवजी और ये नदी, दानो एक जगह रहने लगते है। वह कहता है, "मै बड़ा होकर खराब हुआ। अब तू मेरे पास रहता है। इसमें कोई लाभ नहीं।" इसलिए समाजमें सेवाके ही लिए ही जाना चाहिए। बाकीका समय स्वाध्याय और आत्म-परीक्षणमें बिताना चाहिए। आत्म परीक्षणके बिना उन्नति नहीं हो सकती। अपने स्वतंत्र समयमें हम अपना एकाध प्रयोग भी करें। कई कार्यकर्ता कहते हैं, "क्या करें, चिंतनके लिए समय ही नहीं मिलता। जरा बैठे नहीं कि कोई-न-कोई आया नहीं।" जो आये उससे बोलनेमे समय

बिताना सेवा नहीं है ! कार्यकर्त्ताको स्वाध्याय और चिंतनके लिए अलग समय रखना चाहिए। एकांत-सेवन करना चाहिए । यह भी देहातकी सेवा ही है ।

एक बात स्त्रियोके संबंधमे । स्त्रियोके लिए कोई काम करनेमें हम अपनी हतक समझते हैं। पौनारका ही उदाहरण लीजिए । व्याकरणके अनुसार जिनकी गणना पुल्लिंगमे हो सकती है ऐसा एक भी आदमी अपनी धोती आप नहीं फींचता । आपके कपडे लड़की धोती है, और भाईके कपड़े बहनको धोने पड़ते हैं । मांकी साड़ी फीचनेमे भी हमें शर्म आती है, तो पत्नीकी साड़ी धोनेकी तो बात ही क्या ? अगर विकट प्रसंग आ जाय तो कोई रिश्तेदारन धो देती है । और वह भी न मिले तो पड़ोसिन यह काम करेगी । अगर वह भी न मिले और पत्नीकी साडी साफ करनेका मौका आ ही जाय, तो फिर वह काम शामको, कोई देख न पाए ऐसे इतजामसे; चुपचाप, चोरीसे, कर लिया जाता है । यह हालत है ! और मेरा प्रस्ताव तो इससे बिलकुल उलटा है । लेकिन अगर आप मेरी बातपर अमल करे तो आगे चलकर वे स्त्रियां ही आपके कपडे बना देगी, इसमे तनिक भी शका नहीं । एक बार मैं खादीका एक स्वावलबन-केंद्र देखने गया । दफ्तरमे कोई सत्तर-पचहत्तर स्वावलंबी खादी-धारियोकी तालिका टगी हुई थी । लेकिन उसमे एक भी स्त्री नहीं थी । यहा जो सभा हुई उसमें मेरे कहनेसे खासकर स्त्रिया भी बुलाई गई थीं । मैंने पूछा, 'यहां इतने स्वावलबी खादीधारी पुरुष हैं; तो क्या स्त्रियां न कातेगी ?" स्त्रियोने जवाब दिया, हम ही तो कातती है ।" तब मैंने खुद कातनेवाले पुरुषोसे हाथ उठानेको कहा । कोई तीन-चार हाथ उठे । शेष सब स्त्रियों द्वारा काते गये सूतके जोरपर स्वावलम्बी थे । इसलिए कहता हूं कि फिलहाल उनके लिए महीन सूत कातिए । आगे चलकर वे ही आपके कपडे तैयार कर देगी । कम-से-कम खादी-यात्रामें पहननेके लिए एक साड़ी अगर आप उन्हें आप बना दें तो भी मैं संतोष मान लूंगा । अगर वे वहां आयंगी तो कम-से-कम हमारी बातें उनके कानोंतक पहुंचेगी ।

: ४१ :

चरखेका सहचारी भाव

पुराने जमानेकी बात है। एक सत्य-वक्ता, विशुद्धमना साधु बनमें तप करते थे। उनके शात तपके प्रभावसे वहाके पशु पक्षी आपसी वैर-भाव भूल गये थे जिससे बन-का-बन एक आश्रम जैसा बन गया था। जिस तपके बलसे बन केसरीका स्वभाव बदल जाय उससे इंद्रका सिंहासन डोलने लगे तो इसमें क्या आश्चर्य है ? इन्द्रने उससाधुका तप भंग करना तय किया। हाथमे तलवार ले योद्धाका भेस बना वह साधुके पास आये, और विनती करने लगे—"क्या आप मेरी यह तलवार कृपा करके अपने पास धरोहरकी भांति रख लेंगे ?" न जाने साधुने क्या सोचकर उसकी विनती मान ली। इन्द्र चले गये। साधुने धरोहर सभालकर रखनेकी जिम्मे ली थी, वह दिन-रात तलवार अपने साथ रखने लगे। देव-पूजाके लिए पुष्प आदि लेने जाते तो भी तलवार साथ होती। आरंभमें उन्होंने विश्वासके नाते तलवार अपनाई थी, धीरे-धीरे तलवारपर उनका विश्वास जमता गया। तलवार नित्य साथ रखते-रखते तपस्यासे श्रद्धा जाती रही। यह बात उनके ध्यानमे भी न आई। साधु क्रूर हो गया, इद्रका सिंहासन स्थिर और निर्भय हो गया और बनके हरिण डरके मारे कापने लगे।

रामचद्रजीके दंडक बनमे घूमते समय उनके हाथो कहीं हिसा न हो जाय, इस विचारसे यह सुन्दर कथा सीताजीने उनसे कही थी। हर वस्तुके साथ उसका सहचारी भाव आता ही है। इस कथाका इतना ही भाव है। जैसे सूर्यके समीप उसकी किरणे वैसे ही वस्तुके समीप उसका सहचारी भाव होता है।

हम कहते है चरखेका सर्वत्र प्रचार हो जाय तो स्वराज्य मिला ही समझिए। इसका मतलब बहुतोकी समझमें नहीं आता। कारण, चरखेके सहचारी भाव उनके ध्यानमे नहीं आते। घरमें एक चरखा आते ही अपने

साथ कितनी भावनाएं लाता है, यह हम नहीं जानते। बिजलीकी भांति सारा वातावरण पल भरमें बदल जाता है। राजाके बाहर निकलनेपर हम कहते हैं—"राजाकी सवारी निकली है।" चरखा घरके भीतर आया तो चरखेकी सवारी भीतर आती है। इस सवारीमें कौन कौनसे सरदार शामिल होते हैं, इसपर विचार करें तो 'चरखेसे स्वराज्य' का रहस्य समझमें आजाय।

थोडे दिन हुए एक धनिक सज्जनने जिन्होंने कांग्रेसके नियमानुसार हाल-मे ही चरखा कातना शुरू किया था, चरखेके विषयमें अपना यह अनुभव बताया था। "पहले मेरे मनमे चाहे जैसे तैसे व्यर्थ विचार आया करते थे। चरखा कातना शुरू करनेपर यह बात अपने आप बंद हो गई। बीचमे एक बार जीमे आया कि बडे लोग मोटर रखते हैं, मैं भी एक मोटर लू। पर तुरत ही यह विचार हुआ कि एक ओर चरखा और दूसरी ओर मोटरके पीछे मेरा पैसा विदेश जाय, यह ठीक नहीं। मोटरके बिना मेरा कोई काम अटका भी नहीं है। यह अनुभव एक दोका नहीं, बहुतोका है। चरखेके सहचारी भावोंमे गरीबोंके प्रति सहानुभूति, गरीबीकी कद्र और उसमें ही रस मानना एक महत्वपूर्ण भाव है। गरीब और अमीरमे एकता लानेकी सामर्थ्य जितनी चरखेमे है उतनी और किसी चीजमें नहीं।

गरीब और अमीरका झगड़ा सारी दुनियाको परेशान कर रहा है। इसे मिटानेकी शक्ति अकेले चरखेमे ही है। गरीब अमीर एक हो जाय तो स्वराज्य मिलते कितनी देर?

आज अपने समाजके, अंधा मजदूर, लंगड़ा पंडित, ये दो भाग हो गये हैं। सुशिक्षितोमे स्वराज्यकी भावना है पर कार्य करनेकी शक्ति नहीं। अशि-क्षितोंमे कार्य करनेकी शक्ति है तो भावना नहीं। अंधे और लंगड़ेकी इस जोड़ीको जोड़नेकी कला केवल चरखेमें है। यो तो चरखा एक सीधी सादी-सी चीज दिखाई देता है। और है भी वह ऐसी ही। पर इस सीधी सी वस्तुके लिए भी बढ़ई, लुहार, चमार आदिके चरणोंमें बैठना पड़ता है। अपने छोटे भाईको मैंने एक बढईके पास काम सीखनेको रखा था। शुरू-शुरूमें तो बढई बड़े अदबसे सिखाता बताता था, पर थोडे दिन बाद ही उसे मालूम

हो गया कि मेरा शिष्य और बातोंमें चाहे विद्वान् हो पर इस काममें मूर्ख है। फलतः एक दिन धमकाकर बोला "इतना बताया तो भी 'तू' नहीं समझता !" शुरू-शुरूमें वह 'तुम' कहता था। लेकिन उम्र छोटी होते हुए भी जब उसके मुंहसे 'तू' निकलपड़ा तो मुझे आनंद हुआ। जान पड़ा स्वराज्य पास आ गया है। एक बार मैं चरखा कात रहा था, एक ढेड़ बुनकर मुझसे मिलने आया। (यह सयोग भी चरखेके आदोलनके बिना नहीं आता।) मैं कातते-कातते उसके साथ बातें करता जाता था। तकुएमें कुछ दोष था जिससे अच्छा कातते नहीं बनता था। उस ढेड़के ध्यानमें तुरंत यह बात आ गई थी और क्या दोष है, यह उसने मुझे बताया। मुझ जैसे 'विद्वान्'को सिखानेमें उसको कितना आनद आया होगा और हम एक दूसरेके कितने पास आये होंगे! सुशिक्षित और अशिक्षित एक हो जायं तो स्वराज्य क्यों न मिले?

आज हिन्दू मुसलमानके झगड़ोंका प्रश्न बड़ा विकट हो गया है। मैं समझता हूं कि इसे हल करनेकी शक्ति भी केवल चरखेमें ही है। प्रत्येक मंदिर और मसजिदमें चरखेका प्रवेश हो जाय तो सब झगड़े खत्म होजाय। अवश्य ही, आजकी परिस्थितिमें ऐसा होनेके लिए भी दूसरी कितनी ही वस्तुओंकी सहायता दरकार होगी। लेकिन चरखा कातनेवाला, कोई भी हिन्दू या मुसलमान एक दूसरेका सिर तोड़नेको कभी तैयार न होगा, यह बात पक्की है। जिस तरह तलवारको साथ रखते-रखते मनुष्य हिंसक बन जाता है उसी तरह वह चरखेके साथसे शात बन जाता है। शाति या अहिंसा ही चरखेका सहचारी भाव है। समाजमें शाति स्थापित हो और उससे हिन्दू-मुस्लिम झगड़ोंका अत हो जाय तो स्वराज्य क्यों न मिले?

चरखेके सहचारी भावोंके यथार्थस्वरूपका वर्णन नहीं किया जा सकता। और किया भी जाय तो केवल पढ़कर वह समझा नहीं जा सकता। उसके लिए तो खुद चरखेसे ही दोस्ती करनी होगी। दोस्ती पक्की होते ही चरखा खुद ही अपने सब रहस्य बता देता है। उसकी सगीत-मधुर-वाणी एक बार कानमें पड़ी कि सारी कुशंकाएं मिटी समझिए। इसलिए यह लेख पूरा करनेके पचड़ेमें न पड़कर, उसका बाकी हिस्सा पाठक चरखेमेंसे कात ले। उनसे

इतनी प्रार्थना करके मैं यही विश्राम लेता हूं।

: ४२ :

सारे धर्म भगवान्‌के चरण हैं

पिछले दिनो बबईमें इस्लामके एक अध्येता श्रीमुहम्मदअलीका 'कुरानके अध्ययन' पर एक भाषण हुआ था। उसमे उन्होंने जो विचार प्रकट किये थे वैसे आजकलके असहिष्णु युगमे बहुत कम सुनाई दते हैं।

उन्होंने कहा, "कुरानके उपदेशके सबधमें हिन्दुओ या ईसाइयोंके दिलोंमे होने वाली विपरीत भावनाओंकी जिम्मेदारी मुसलमानोकी है। परधर्मोंके विषय मे जो वृत्ति कुरानकी मानी जाती है, उसके लिए वस्तुत कुरान जिम्मेदार नही है, बल्कि वे चद मुसलमान हैं जो कुरानके उपदेशके खिलाफ आचरण कर रहे हैं। कुरानका उचित रीतिसे अध्ययन करनेसे विदित होगा कि कुरानकी रूसे जहा जहा ईश्वर शरणता है वहा वहा इस्लाम है। मैं खुद किसी समय नास्तिक और ऊपरी—अर्थात् हिन्दू विरोधी या ईसाई विरोधीके अर्थमें—मुसलमान था। पर कुरान पढनेपर इस्लामका असली अर्थ मेरी समझमें आ गया और आज मै एक सच्चे हिन्दू या सच्चे ईसाईको असली मुसलमान समझ सकता हू।"

यह दृष्टि शुद्ध है। सच्चे हिंदूमे मुसलमान हैं और सच्चे मुसलमानोंमें हिंदू है। हममें पहचानने भरकी शक्ति होनी चाहिए। विट्ठलका उपासक विट्ठलकी उपासना कभी नहीं छोड़ेगा। वह जन्मभर विट्ठलका ही उपासक रहेगा। लेकिन वह रामकी उपासनाका विरोध न करेगा। वह विट्ठलमें भी राम देख सकता है। यही बात रामोपासकपर लागू है। उसे रामकी मूर्त्तिमें विट्ठलके दर्शन होते हैं।*

* तुलसीदासजीने कहा नहीं है—मोर मुकुट कटि काछनी, भले बने हो नाथ। तुलसी मस्तक तब नमे, धनुष बाण लो हाथ।"

धर्माचरण एक उपासना है। उपासनामे विरोधकी गुंजायश नहीं। जैसे 'राम' और 'विट्ठल' एक ही परमेश्वरकी मूर्त्तिया हैं, और इसलिए उनमें विशिष्टता होते हुए भी उनका विरोध नही है; वैसे ही हिन्दू-धर्म, मुस्लिम-धर्म इत्यादि एक ही सत्य-धर्मकी मूर्त्तिया हैं, इसलिए उनमे विशिष्टता होते हुए भी विरोध नहीं है। जो ऐसा देखता है वही वास्तवमे देखता है।

रामकृष्ण परमहसने भिन्न-भिन्न धर्मोकी साधना स्वयम् करके सब धर्मोंकी एकरूपता प्रत्यक्ष कर ली। तुकारामने अपनी उपासनाके सिवा दूसरे किसीकी उपासना न करते हुए भी सारी उपासनाओंकी एक वाक्यता जान ली। जो स्वधर्मका निष्ठासे आचरण करेगा उसे स्वभावतः ही दूसरे धर्मोंके लिए आदर रहेगा। जिसे पर-धर्मके लिए अनादर हो उसके बारे मे समझ लीजिए कि वह स्वधर्मका आचरण नही करता।

धर्मका रहस्य जाननेके लिए न तो कुरान पढ़नेकी जरूरत है, न पुराण पढ़नेकी; सारे धर्म भगवान्‌के चरण हैं, इतनी एक बात जान लेना बस है।